

लोकतंत्र : अस्मिता के आईने में

विजय प्रताप

संपादक

किशन कालजयी

मूल्य : सजिल्द 60 रुपये

पेपरबैक 30 रुपये

सर्वाधिकार ' विजय प्रताप

पहला संस्करण : 2004

प्रकाशक : नयी किताब

बी-3/44, रोहिणी, सेक्टर-16, दिल्ली-110085

वसुधैव कुटुंबकम

द्वारा - लोकायन, 13, अलीपुर रोड, दिल्ली-110054

आवरण : देव प्रकाश

मुद्रक : एस.एन. प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली

**LOKTANTRA: ASMITA KE AINE MEIN**

By VIJAY PRATAP

Edited by KISHAN KALJAYEE

पहली किताब माताजी एवं पिताजी को समर्पित। जिन्होंने खुद ढेर सारी मुश्किलों को झेल कर मुझे जीवन की पगदंडी पर चलने के काबिल बनाया, जिस पर रितु प्रिया सहयात्री बनी। मां की निर्भीकता एवं पिताजी की ईमानदारी ने ही मुझे वह संस्कार दिया जिसकी बदौलत मैं समाजवादी आंदोलन में शामिल हो सका।

## अनुक्रम

कहने लायक कुछ बातें	5
भूमंडलीकरण का विकल्प	7
लोकतांत्रिक विमर्श की परवाह	28
ब्राह्मण नहीं, ब्राह्मणवाद से लड़ाई	40
एक दलित युवक द्वारा पार्टी की तलाश	54

## कहने लायक कुछ बातें

जल प्रदूषित होता जा रहा है, जमीन अपनी उर्वरा-शक्ति खो रही है, औद्योगीकरण और शहरीकरण के नाम पर जंगल उजाड़े जा रहे हैं, आधुनिकता के नाम पर अपसंस्कृति परोसी जा रही है, भारतीय भाषाओं पर अंग्रेजी का वर्चस्व बढ़ता जा रहा है, गोदामों में अनाज है और लोग भूख से मर रहे हैं, कृषि-प्रधान देश में किसान आत्महत्या के लिए मजबूर होते जा रहे हैं। हादसे अभी और हैं...।

बेहतर कहना यह होगा कि भूमंडलीकरण के इस दौर में एक ओर देश, दुनिया, लोकतंत्र और विचार सब कुछ दांव पर लगा हुआ है तो दूसरी ओर बहुराष्ट्रीय बाजार की तानाशाही है। पूंजी की निर्ममता ने नागरिकों को सिर्फ उपभोक्ता बनने के लिए विवश कर दिया है।

इस निर्ममता और तानाशाही के खिलाफ जो लोग खड़े होना चाहते हैं उनके लिये विजय प्रताप की यह किताब औजार साबित हो सकती है क्योंकि यह अंतर्राष्ट्रीय प्रभुवर्ग के मायाजाल की कई गुत्थियां कायदे से खोलती है।

थोड़े से पृष्ठों की यह छोटी किताब बड़े सामाजिक-राजनीतिक फलक को समेटे हुए है तो इसलिए कि विजय प्रताप पेशेवर लेखक नहीं बल्कि समाज, संस्कृति और लोकतंत्र से गहरे जुड़े देश के प्रमुख कार्यकर्ता हैं। सामाजिक प्रतिबद्धता का ही यह प्रमाण है कि जब समता पार्टी भाजपा के साथ गठबंधन में शामिल होने लगी तो उन्होंने पार्टी के राष्ट्रीय सचिव के पद से इस्तीफा दे दिया।

सामाजिक कार्यकर्ता होने के नाते वह अपने लेखन में भी बातचीत करते हुए दिखते हैं । उनके लेखन की यह सीमा है और विशेषता भी, क्योंकि वह अपने सुनने वालों के लिए अत्यंत ही आत्मीय रूप से सम्प्रेषणीय होते हैं।

दलितों तथा गरीबों के आत्म-सम्मान और अस्मिता की लड़ाई में उनकी लेखकीय पक्षधरता बिल्कुल प्रकट है और प्रबल भी। इसलिए यह अकारण नहीं कि उनकी बेचैनी सिर्फ लोकतंत्र की मर्यादा तक सीमित नहीं रहती बल्कि उस अदना व्यक्ति के बेहतर जीवन के लिये भी आकार लेती है, जो समाज के हाशिये पर धकेल दिया गया है। प्रचलित अर्थों में चुनी हुई सरकार को लोकतंत्र मानने की रूढ़ राजनैतिक अवधारणा से मुक्त विजय प्रताप लोकतंत्र को उस व्यापक घेरे में ले जाते हैं जहां आर्थिक, पारिस्थितिकीय, सांस्कृतिक और सामाजिक लोकतंत्र की स्थापना हो सके। और इस स्थापना में समाज की जो पारंपरिक विशेषताएं हैं, उनकी उपेक्षा नहीं हो, इसके लिए भी वह लगातार सचेत करते हैं।

लोकतंत्र के नाम पर फरेब और ढोंग का बोलबाला बढ़ रहा हो, झूठ का ही शोर सब जगह सुनाई पड़ रहा हो, ऐसे कठिन समय में 'लोकतांत्रिक विमर्श की परवाह' करते हुए लेखक द्वारा प्रस्तावित 'भूमंडलीकरण का विकल्प' प्रत्यक्ष तौर पर भले एक बौद्धिक विमर्श लगे लेकिन इन लेखों की केन्द्रीय संवेदना बेहतर मानव जीवन के लिए अनिवार्य राजनीति का आह्वान भी है।

**किशन कालजयी**

13 जनवरी 2004

*सम्पादक-संवेद*

## भूमंडलीकरण का विकल्प

मेरा राजनीतिक प्रशिक्षण भारतीय समाजवादी आंदोलन में हुआ है। इसे हमने क्रांतिकारी समाजवादी आंदोलन का नाम दिया हुआ था। लोकतांत्रिक समाजवादी कहने की जगह हम खुद को सिर्फ समाजवादी कहा करते थे। इसके पीछे मान्यता यह थी कि लोकतंत्र के बिना समाजवाद हो ही नहीं सकता। इसलिए हम जो कुछ करते-सोचते रहे हैं, लोकतंत्र उसका एक केंद्रीय तत्व रहा है। वैसे लोकतंत्र शासन की एक पद्धति का नाम है, जिसमें सत्ता न्यायपालिका, कार्यपालिका और विधायिका के बीच बंटी होती है। पद्धति को चुनाव और राजनीतिक दलों के जरिये वैधता मिलती है। पर नये सामाजिक आंदोलन ने लोकतंत्र को ज्यादा गहरा और व्यापक अर्थ प्रदान कर दिया है। इस गहन समझ के अनुसार लोकतंत्र प्रत्येक व्यक्ति को अंतर्भूत रूप से महत्वपूर्ण मानता है। उसके लिए लोकतंत्र एक खूबसूरत सपने का नाम है।

हम एक अपूर्व क्रांति के युग में जी रहे हैं। पिछली सदी ने मानव-जीवन के विभिन्न पहलुओं को पुनर्परिभाषित करने के लिए अपार मानवीय ऊर्जा का विस्फोट किया था, इसलिए आज दुनिया बदलावों की एक पूरी नयी श्रृंखला शुरू करने के मुहाने पर है। मनुष्य जाति के इतिहास में आज से ज्यादा लोगों ने स्वराज्य अर्थात् स्वशासन के लिए कभी काम नहीं किया था।<sup>1</sup> इन लोगों के लिए स्वराज्य का विचार सिर्फ राजनीतिक संदर्भों अर्थात् शासन-भर के लिए न होकर जीवन से जुड़े व्यापक और समग्र मामलों के संदर्भ में है। आज यह 'समग्र' लोकतांत्रिक आंदोलन अपना रूप ग्रहण कर रहा है। लोग अपने सभी बुनियादी संबंधों, जैसे प्रकृति और मनुष्य का संबंध, मनुष्य का और समुदाय का अंतःसंबंध 'स्व' और 'पर' के बीच का अंतःसंबंध, व्यक्ति और शासन के ढांचे के विभिन्न समूहों या स्तरों के बीच का संबंध और व्यक्ति तथा समुदाय के बाजार के साथ संबंधों को फिर से परिभाषित करने का प्रयास कर रहे हैं। ये सभी मानव-जीवन के अलग-अलग क्षेत्रों से संबंध रखते हैं और इनके बीच लोकतांत्रिक संबंध बनाना या उसे व्यावहारिक रूप देने को हम पारिस्थितिकीय लोकतंत्र, सामाजिक लोकतंत्र, सांस्कृतिक लोकतंत्र और आर्थिक लोकतंत्र कह सकते हैं। लोकतंत्र के इन पांचों अंगों या पहलुओं को किसी एक विचारधारा या क्षेत्र में नहीं

समेटा जा सकता। प्रकृति और मनुष्य के संबंधों पर आधारित स्वराज्य या स्वशासन से जुड़े मुद्दों ने दुनिया-भर में 'ग्रीन' पार्टियों, समूहों, आंदोलनों और बौद्धिकों को पैदा किया है। पर्यावरण के मुद्दों को प्रमुखता देने वाले आंदोलन, दुनिया के समृद्ध देशों में भी उभरे और मजबूत हुए हैं। भौतिक सुख-साधनों से समृद्ध समाजों में भी 'हरित चेतना' जगाने और पर्यावरण के विनाश की चुनौती का सामना करने का मसला बड़े जोर-शोर से उभरा है। अधिकांश देशों में आंदोलन करने वाले समूह पर्यावरण और सांस्कृतिक चेतना जगाने के साथ ही प्रकृति से जुड़ी जीवन-पद्धति को बचाने के आंदोलन में लगे हैं। चूंकि इन आंदोलनों की ऊर्जा प्रकृति और मनुष्य के अंतःसंबंधों के बारे में फैसला करते समय स्थानीय समुदायों की व्यापक भागीदारी का आग्रह करती है, इसलिए हम आज के युग को पारिस्थितिकीय लोकतंत्र के लिए प्रयासरत युग के रूप में चिह्नित कर सकते हैं।

इसी प्रकार व्यक्ति और समुदाय के अंतःसंबंधों को पुनर्परिभाषित करने में भी आज बहुत बड़ी मानवीय ऊर्जा लगी हुई है। उनके मानवाधिकार समर्थक, लैंगिक-विषमता विरोधी, जाति विराधी, रंगभेद विरोधी समूहों की कार्यसूची में मनुष्य के सम्मान का प्रश्न केंद्रीय बना हुआ है। सामाजिक संबंधों को पुनर्परिभाषित करने की हलचल दुनिया-भर में है और इसे सामाजिक लोकतंत्र का नाम दिया जा सकता है। मैं जिस क्रांतिकारी ऊर्जा के विस्फोट की बात कर रहा हूँ उसका एक संकेत डरबन में हुए रंगभेद विरोधी सम्मेलन के प्रति सैकेडों समूहों की उत्सुकता से मिला था। आज महिला आंदोलन सभी मुद्दों पर 'लैंगिक परिप्रेक्ष्य' के साथ मुखर है। वह केवल महिलाओं के हक का आंदोलन नहीं रह गया है। इस हिसाब से देखें तो यह सामाजिक लोकतंत्र की तरफ बढ़ते संघर्षों का युग है।

अगर हम 'स्व' और 'पर' अर्थात् 'अपने' और 'पराये' के बीच अंतःसंबंधों से जुड़ी चर्चा को संस्कृति की बृहत्तर परिभाषा के दायरे में देखेंगे तो इस मामले में अपूर्व कोलाहल, नये विचार और सिद्धांत, हिंसक और अहिंसक टकराव दिखायी देगा। 'आधुनिकता' और औद्योगिक रूप से विकसित समाजों की आलोचना, ज्ञान की स्थानीय परंपराओं को पुनर्जीवित करने की मुहिम और कठमुल्लावाद की जकड़न तोड़ने की कोशिशें इसी दिशा में होने वाले प्रयासों का हिस्सा हैं। और निवेशिक शासन से मुक्त हुए अधिकांश देशों ने जब अपनी आर्थिक बागडोर खुद



संभाली तो भले ही उनमें से कुछ देशों में बहुत तेज गति से विकास नहीं हुआ, पर लगभग सभी देशों में जीवन-स्तर सुधरने लगा। देशज लोगों का प्राकृतिक संसाधनों पर आधारित आर्थिक जीवन हो या अधिकांश समाजों के छोटे-मंझोले किसान हों, सभी अपनी आर्थिक जरूरतों के लिए सम्मानजनक कमाई का तरीका ढूंढने लगे। इसमें एक तरीका तो समृद्ध और अमीर उत्तरी देशों की अंधी नकल करना है। लेकिन, किसानों, चिकित्सा, भोजन, जल-प्रबंधन वगैरह की देशज या स्थानीय ज्ञान-पद्धतियों की तरफ वापस मोड़ने का प्रयास करने वाले भी कम नहीं हैं। ये दोनों ही प्रवृत्तियां आर्थिक जीवन में लोकतांत्रिक व्यवस्था लाने की व्यापक चाहत को ही व्यक्त करती हैं।

अधिकतर राष्ट्रों में उपनिवेशवाद विरोधी संघर्षों ने नयी राजनीतिक पहचानों को जन्म दिया है। स्वशासन या स्वराज की मूल इच्छा के साथ ही लोग औपनिवेशिक शासन के उपकरणों पर भी गंभीर सवाल उठा रहे हैं। कई बार इन देशों के शासक समूह विभिन्न तानाशाहियों के माध्यम से लोगों की इस इच्छा का दमन भी करते हैं।

सौभाग्य से राजनीतिक व्यवस्था में ज्यादा से ज्यादा लोगों की भागीदारी आज काफी वैधता हासिल कर चुकी है। यही कारण है कि उनके तानाशाहों को अपने शासन के लिए किसी न किसी तरह से अपने यहां के लोगों से वैधता पाने की, आधी-अधूरी ही सही, कोशिश करनी पड़ती है। लोकतांत्रिक क्रांति का क्रिया भाव हमारे लिए यह जरूरत पैदा करता है कि हम इस समस्त लोकतांत्रिक ऊर्जा को पहचानें। खुद को इसके सकारात्मक पहलुओं से जोड़ते हुए इसे स्पष्ट वैश्विक नजरिये से एकजुट करें और एक स्पष्ट विश्व-दर्शन और भविष्य का सपना गढ़ने में सहायक बनें। सर्वहितवादी मानवतावादी भूमंडलीकरण का हमारा यही नजरिया है।

### **उलटा भूमंडलीकरण**

लेकिन आज हमें जो भूमंडलीकरण दिखायी दे रहा है, वह ठीक उल्टी चीजों के एकजुट होने का नतीजा है। यह एक प्रभुत्वकारी भूमंडलीकरण है जिसे सिर्फ शैतानी शक्ति के रूप में ही पहचाना जा सकता है।<sup>2</sup>

दक्षिण एशिया के लिए भूमंडलीकरण और इससे जुड़ी नवउदारतावादी नीतियों की सामाजिक लागत काफी अधिक है। आगे हालत और भी खराब होगी। आजादी से लेकर नब्बे के दशक की शुरुआत तक भारत में शिशु मृत्यु-दर में धीमी पर निरंतर गिरावट आ रही थी और औसत आयु में भी काफी सुधार हुआ था। नब्बे के दशक के पहले हिस्से में शिशु मृत्यु-दर की गिरावट कम हुई और फिर रूक गयी। नवीनतम सरकारी सर्वेक्षणों के अनुसार 1999-00 में शिशु मृत्यु-दर में वृद्धि होने लगी है। प्रोफेसर इमरान कादिर ने कहा है कि यह कोई तात्कालिक बदलाव न होकर आने वाले दौर के खतरों का सूचक है। मौजूदा नीतियों की दिशा न बदली गयी तो यह खतरा मुँह बाएँ खड़ा है। स्वास्थ्य प्रणाली में गिरावट आयी है। लेकिन, यह मुख्य वजह नहीं है। पूरे नब्बे के दशक में दनादन भारत पहुंचने वाली विदेशी कंपनियों, आधुनिक तकनीकों और नवउदारतावादी नीतियों ने बड़े पैमाने पर घरेलू और लघु उद्योगों का नाश किया है। इसमें ग्रामीण आबादी का काफी बड़ा हिस्सा बेरोजगार हो गया है और रोजगार के अन्य अवसर उपलब्ध न होने के चलते ये सारे लोग भी खेतिहर मजदूर के रूप में काम करने को विवश हुए हैं। चूंकि इस क्षेत्र में पहले से ही ज्यादा लोग काम कर रहे थे, इसलिए वहां की कमाई और अवसर कम हो गये हैं। इसका सबसे बुरा असर दलितों पर पड़ने वाला है। भूमिहीन मजदूरों में उसका हिस्सा काफी बढ़ा है। पहले आरक्षण के चलते उनके बीच से कुछ लोग ऊपरी नौकरियों में पहुंच जाते थे। अब निजीकरण के परिणामस्वरूप सरकारी नौकरियों की संख्या नगण्य रह गयी है। निजी क्षेत्र की सामाजिक न्याय के प्रति कोई वचनबद्धता न होने से दलितों की गतिशीलता कम होती जायेगी। समाज कल्याण के कार्यों से सरकार के हाथ खींचने का भी दलितों के ऊपर ही सबसे ज्यादा असर पड़ेगा।

भूमंडलीकरण की मार भूमिहीन या लगभग नगण्य भूमि वाले मजदूरों पर काफी बुरी पड़ी है। ठीक-ठाक जमीन वाले किसान भी इससे अछूते नहीं रहे हैं। आज भारतीय किसान किसी भी दौर की तुलना में ज्यादा कर्जे के बोझ के नीचे दबा हुआ है। भूमि की खरीद-फरोख्त का प्रस्तावित कानून, जो मौजूदा भूमि सुधार कानून को समाप्त करने के साथ ही एक व्यक्ति द्वारा अधिकतम जमीन रखने की हदबंदी को भी बेमानी बना देगा, किसानों की स्थिति को बदतर बनायेगा।

अगर विश्व व्यापार संगठन के नये दौर की बातचीत खेती से जुड़ी चीजों के व्यापार को और उदार करने की तरफ गयी तो स्थिति और भी ज्यादा बिगड़ेगी। उत्तर के देशों में किसान कुल आबादी का मात्र दो फीसदी हिस्सा है, जबकि दुनिया -भर में उसका हिस्सा लगभग 50 फीसदी है। फिर भी सारे कृषि संबंधी नियम दुनिया के इस भाग की 0.5 फीसदी आबादी का नेतृत्व ही तय कर रहा है। आयात पर मात्रात्मक पाबंदियों और आयात शुल्क के बिना भारतीय किसान भारी सबसिडी पर फलने-फूलने वाले अमेरिकी किसानों से स्पर्धा नहीं कर सकते। किसानों की ऋणग्रस्तता ने भारत के कई प्रदेशों में किसानों द्वारा आत्महत्या करने का दौर शुरू कराया है जो उनकी परेशानियों की पराकाष्ठा बताता है। अगर भारत में यूरोपीय संघ, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड और अमेरिका से आये सस्ते दूध के उत्पादों और सस्ते अनाज के आयात की बाढ़ जारी रही तो अनेक ग्रामीण इलाकों में स्थिति और विस्फोटक हो जायेगी।

इसके साथ ही उन कानूनों को भी बदला जा रहा है जो अभी तक देश के आठ करोड़ आदिवासियों के अधिकारों और आजीविका की रखवाली करते थे। व्यवहार में भले ही ये शत-प्रतिशत प्रभावी न हों पर आदिवासियों की स्वीकृति के बिना वन्य पदार्थों का व्यापार ओर खनन करने वाली कंपनियां इन क्षेत्रों में प्रवेश नहीं कर सकती। वन कानून आदिवासियों को अनेक ऐसे लघु वनोपयोगों का हक प्रदान करते हैं जिनका उनके जीवन में बहुत महत्व है। अब इन कानूनों की जगह भी अधिक बाजारोन्मुख कानून लाये जा रहे हैं। नेपाल में जिन वैधानिक उपायों ने सफल सामुदायिक वन कार्यक्रम की जमीन तैयार की, उन्हें अब विश्व बैंक के दबाव में उल्टा जा रहा है।

इस भूमंडलीकरण का 'पहली दुनिया' के लिए क्या मतलब है, यह बात सोसाइटी फार इंटरनेशनल डेवलपमेंट, रोम के लिए तैयार की गयी रिपोर्ट में फैंक एमालरिक ने विस्तार से बताया है। रिपोर्ट में एक जगह वे लिखते हैं: "एक प्रक्रिया अत्यधिक उत्पादन क्षमता ने ही पैदा की है जिसके चलते निजी क्षेत्र के कर्ताधर्ता अपने आर्थिक हितों को बढ़ाने के लिए राजनीतिक समाधान ढूँढ़ने निकले हैं। दूसरी चीज है राजसत्ता का प्रयोग करके आंतरिक समस्या को बाहरी बनाना और बाहरी देशों पर लादना, क्योंकि विश्व व्यवस्था का लोकतांत्रिक विमर्श ज्यादा मजबूत नहीं है।"

भूमंडलीकरण के मौजूदा स्वरूप में फरेबों और ढोंगों की भरमार है। भूमंडलीकरण के पीछे काम करने वाली तिकड़ी, विश्व बैंक-अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष-विश्व संगठन, वस्तुओं और सेवाओं के 'उपभोक्ताओं के लिए सारे सरकारी नियंत्रणों और अनुदानों को हटा कर बाजार की शक्तियों को खुलकर खेलने देने की वकालत करती है। साथ ही यह तिकड़ी चाहती है कि सरकारें, बाजार के लाभ की व्यवस्था को अपने खर्च से चलाएं। इस मामले में भारत में आये एनरॉन (दाभोल पावर कारपोरेशन) का उदाहरण देखा जा सकता है। एनरॉन का दावा था कि 'भ्रष्ट और अक्षम' राज्य बिजली बोर्डों की तुलना में ज्यादा सक्षमता से बिजली तैयार कर सकता है। लेकिन असलियत यह थी कि उसका बिजली उत्पादन लागत प्रति यूनिट बहुत ऊंची थी। उसे अपना उत्पाद बेच पाने और यहां निवेशित रकम पर वांछित कमाई करने के लिए राज्य-केंद्र सरकारों से काउंटर गारंटी की शर्तों के आधार पर मोटी रकम भी हासिल करनी थी। सरकारें यह रकम गरीब करदाताओं से ही जुटा सकती थी। क्या विश्व बैंक-अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष-विश्व व्यापार संगठन की तिकड़ी को मुक्त बाजार का पाठ एनरॉन को भी नहीं पढ़ाना चाहिए था? मुक्त बाजार की शर्तों के अनुरूप काम न कर पाने की एनरॉन की 'अक्षमता' का बोझ सरकारों को क्यों उठाना चाहिए था यह तिकड़ी आर्थिक मामलों में सरकार की भूमिका कम करने की वकालत भी करती रही है। जब हमारी राज्य सरकार एनरॉन के भारी खर्चों को चलाने में अपना धन देने में झिझकी, तो भारत में अमेरिका सरकार के प्रतिनिधि ने धमकी दी कि अगर हमने एनरॉन के भारी खर्च में अपना अनुदान देना बंद कर दिया तो भारत में विदेशी निवेश नहीं आयेगा। दुनिया-भर में एनरॉन जैसी कंपनियां अपने कुलीन राजनीतिक सहयोगियों के साथ सरकारी काम-काज में पारदर्शिता और जवाबदेही के साथ-साथ आर्थिक लेन-देन में किसी किस्म का भ्रष्टाचार न होने का भाषण देती फिरती हैं। लेकिन, यही एनरॉन 'जनशिक्षा' के नाम पर 'वैध' ढंग से हजारों डालर की रकम दाभोल परियोजना हासिल करने के सिलसिले में बाँटती है। इससे ज्यादा बड़ा छल और क्या होगा? 'जनशिक्षा' की यह फीस देने के बाद भी एनरॉन का करार किसी नियमित सरकार के साथ नहीं हुआ। यह करार 13 दिन की उस सरकार ने किया जो संसद में स्पष्ट बहुमत न होने के चलते अपनी विदाई के दिन गिन रही थी।

आर्थिक भूमंडलीकरण ने दुनिया-भर में लोकतांत्रिक निर्णय प्रक्रिया के लिए नयी और गंभीर चुनौतियां खड़ी की हैं। बड़े मुद्दों पर फैसला लेने का अधिकार विश्व बैंक, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व व्यापार संगठन जैसी बहुराष्ट्रीय संस्थाओं अर्थात् राष्ट्रातीत संस्थाओं के हाथों में चले जाने से राष्ट्रीय सरकारों की संप्रभुता बुरी तरह घटी है। इसका सबसे खतरनाक परिणाम यह हुआ है कि किसी भी राजनीतिक प्रणाली में सरकार की अपने नागरिकों के प्रति जवाबदेही का कोई खास मतलब नहीं रह गया है। फ्रैंक एमालरिक के अध्ययन में बताया गया है: “राष्ट्रीय संस्थाओं और नीतियों को प्रभावित करना इन विकास संबंधी नयी नीतियों का खुला उद्देश्य हो गया है। राष्ट्रीय स्तर पर विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ‘अच्छे शासन’ के नाम पर, जो इन संगठनों की तकनीकी प्रकृति के हिसाब से बढ़िया तकनीकी मार्का बन गये हैं, इन सरकारों के कामकाज में दखल देते हैं और द्विपक्षीय ऋणदाता ‘लोकतंत्र’ और ‘सहभागिता’ के नाम पर हस्तक्षेप करते हैं। यह प्रवृत्ति यूरोपीय संघ की नीतियों के मामले में ज्यादा स्पष्ट दिखती है। यूरोप-भूमध्यसागरीय सहयोग, जो भूमध्यसागर के पास बसे देशों के साथ हुआ समझौता और दूसरी ओर यूरोपीय संघ में शामिल होने के लिए पूर्वी यूरोपीय देशों के लिए रखी गयी शर्तें भी इसी का उदाहरण है।”

मौजूदा स्थिति में अब इस बात का कोई खास मतलब नहीं रह गया है कि सरकार किस पार्टी या किस गठबंधन की है। अलग-अलग दलों के गठबंधनों की सरकारों को भी दबाव के चलते निजीकरण, व्यापार और निवेश नीतियों में उदारता और सबसिडी घटाने समेत लगभग एक जैसी नवउदारतावादी नीतियों पर ही चलना पड़ता है। भारत में कांग्रेस पार्टी ने 1991 में सत्ता में रहते हुए ‘ढांचागत समायोजन’ की नीतियों के साथ इस नवउदारतावाद की शुरूआत की, लेकिन विपक्ष में आते ही अब वही निजीकरण और उदारीकरण के खिलाफ बोलने लगी है। इसी प्रकार भारतीय जनता पार्टी जब कांग्रेस सरकार और उसके बाद कांग्रेसी समर्थन से बनी मोर्चा सरकार का विरोध कर रही थी, तब वह भूमंडलीकरण के खिलाफ बहुत तेज जुबान में बोलती थी, स्वदेशी की वकालत करती थी और विदेशी बहुराष्ट्रीय कंपनियों के बहिष्कार का नारा लगाती थी। आज गठबंधन सरकार के सबसे बड़े घटक के रूप में भाजपा कांग्रेस से भी ज्यादा नवउदारतावादी और भूमंडलीकरण की पक्षधर बन गयी

है। उसके इस तरह पलट जाने से मुख्य धारा की राजनीतिक पार्टियों की विश्वसनीयता का बड़ा भारी संकट खड़ा हो गया है।

इसी कारण से लोकतांत्रिक निर्णय लेने की प्रक्रिया में संकट पैदा हो गया है, क्योंकि नवउदारतावादी नीतियां, मतदाताओं के बहुमत की इच्छा के खिलाफ लादी गयी हैं। दूसरे, लोकतंत्र का संकट भ्रष्टाचार की समस्या से भी काफी बढ़ गया है। विश्व बैंक के एक प्रमुख अधिकारी के अनुसार बीते दशक में भ्रष्टाचार साल-दर-साल दो गुना होते जाने की रफ्तार में बढ़ा है और नब्बे के दशक में इसमें कम से कम दस गुना इजाफा हुआ है। सार्वजनिक क्षेत्र की कंपनियों और सार्वजनिक सेवाओं के निजीकरण ने और राष्ट्रीय बाजारों में बहुराष्ट्रीय निगमों के आगमन ने सरकारी मदों के दुरुपयोग और भ्रष्टाचार की बहुत ज्यादा गुंजाइश बना दी है। अगर उत्तर के देशों वाले अपने यहां से संचालित होने वाले भ्रष्टाचार (जिसका एक उदाहरण एनरॉन के संदर्भ में पहले दिया जा चुका है) हमें मुक्त कद दें तो हम दक्षिण के लोग अपने यहां के भ्रष्टाचार और सांप्रदायिकता से स्थानीय स्तर पर बहुत अच्छी तरह से लड़ लेंगे। भूमंडलीकरण का मौजूदा दौर शुरू होने के पहले से ही दक्षिण एशिया के लिए भ्रष्टाचार एक बड़ी समस्या थी, लेकिन राजनीतिक और पेशेवर जीवन में नैतिकता और लाज-लिहाज खत्म होने से इसमें भयानक तेजी आ गयी है। इन सारी समस्याओं का निदान कैसे होगा? आज दुनिया-भर में जो सकारात्मक ऊर्जा दिखायी दे रही है, उसे समेट कर ऐसा मानवतावादी-सर्वहितवादी भूमंडलीकरण कैसे गढ़ा जाय जिससे सभी स्तरों पर मानव समाज प्रभावी ढंग से लोकतांत्रिक बने?

**लोकतांत्रिक सपने के लिए : वसुधैव कुटुंबकम की पहल**

आज के युग में उभरे 'सर्वहितवाद' और 'लोकतंत्र' के विभिन्न रूप दक्षिण एशिया के लोगों के लिए लंबे समय से बुनियादी मूल्य रहे हैं। औपनिवेशिक शासन से पहले भी हमारी सांस्कृतिक-राजनीतिक व्यवस्था में नीचे से लेकर ऊपर तक भागीदारी वाली शासन प्रणाली थी। सभी स्तरों पर राजनीतिक सत्ता का बंटवारा था और हमारी संस्कृति तो बहुलतावादी थी

ही। छुआछूत जैसी बुराई या जाति व्यवस्था के सामुदायिक पक्ष का केवल ऊंच-नीच तक पतित हो जाने-जैसी नकारात्मक चीजें भी हमारे यहां रही हैं। लेकिन, इन गलतियों और विफलताओं के साथ ही अनंत काल से 'वसुधैव कुटुंबकम्' की भावना भी हमारी सांस्कृतिक मूल्य व्यवस्था का अभिन्न हिस्सा रही है। इसी के चलते हमारी सामाजिक-सांस्कृतिक विविधता शक्ति का स्रोत भी रही है। निस्संदेह बीच-बीच में वैचारिक या पहचान में एकरूपता लाने की कोशिश वाले दौर भी चले हैं, लेकिन जल्दी ही बहुलतावादी दृष्टिकोण वापस प्रभावी हो गया। इस विश्वदृष्टि का बुनियादी सिद्धांत है कि कोई भी संप्रदाय, धर्म, वैचारिक समूह वर्ग, सामाजिक-राजनीतिक ढांचा, शासन या 'चर्च' सत्य के ऊपर एकाधिकार का दावा नहीं कर सकता। मनुष्य का हर 'सत्य' अधूरा-एकांगी है।

इतिहास जब भी करवट लेता है तो वह नये युग की शुरूआत कर सकता है या अंधकार युग में भी धकेल सकता है।<sup>3</sup> आज अंधकार की ओर ले जाने वाली ताकतें कौन हैं? इलेक्ट्रॉनिक मीडिया और निहित स्वार्थों के धन पर आधारित इंटरनेट के जरिये 'उपभोक्ता के स्वर्ग' को धरती पर उतारने का वादा किया जा रहा है। इसमें आर्थिक समानता, पारिस्थितिकीय संवेदनशीलता, सांस्कृतिक बहुलवाद या दबे-कुचले लोगों के स्वाभिमान की बातें एकदम ही भुला दी गयी हैं। पूरी दुनिया में इस भूमंडलीकरण के प्रति एक अजीब किस्म की पागल दौड़ दिखायी देती है। व्यक्ति स्वातंत्र्य की बातें करते हुए मितव्ययता के महत्व, समाज में सबके भले की बातें, प्राकृतिक और अन्य संसाधनों पर आने वाली पीढ़ियों के हक तथा दबे-कुचले समुदायों के हितों का ध्यान रखने की बातें, आज बाबा आदम के जमाने की चीजें मानी जाती हैं। इससे मानव समाज में बिखराव और एक अलग तरह का ध्रुवीकरण हो रहा है। पर इस प्रतिक्रिया और सांस्कृतिक पहचान की स्वायत्तता, जातीय पहचान या सामाजिक स्वाभिमान के प्रामाणिक आग्रहों के बीच फर्क करना जरूरी है।

ऐसी सामाजिक-राजनीतिक शक्तियां जिनकी विश्व-दृष्टि इतिहास की एक विकृत समझ (जैसे 'सभ्यताओं के संघर्ष' की सैमुअल हंटिंग्टन की थीसिस) पर आधारित है, आज मौजूदा 'पागल दौड़ रोग' का शिकार हो रही है। इन शक्तियों का सामाजिक आधार मानता है कि वे लोग जीवन-मरण के संघर्ष में लगे हुए हैं। मौजूदा संकट के बारे में भी इन ताकतों की एक

दृष्टि है। इसमें सामान्य आदर्श सिद्धांतों को एक बाधा ही माना जाता है। अनुदारतावाद और परंपरावाद के बीच का भेद मिटा दिया जाता है और मध्यममार्ग को लोकतांत्रिक आचरण के रूप में नहीं देखा जाता। इन 'सतायी गयी शक्तियों' और संगठनों के चुनावी नेतृत्व का आखिर में अलोकतांत्रिक और अनैतिक बलों में रूपांतरण हो जाता है। उनके इस आचरण से खुश उनका ही समाज बंटता और भारी नुकसान सहता है। अपने समाज के, या अन्य समाजों के, बुरे अनुभवों से सीखने की क्षमता इस नेतृत्व में एकदम समाप्त होती जा रही है। वैश्विक रूप में हमारे दौर की सबसे महत्वपूर्ण चुनौती तरह-तरह के कठमुल्लावाद की तरफ से उठ रहे खतरे से लड़ने की है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, लोकतंत्र का समग्र विस्तार और विकास ही हर तरह के कठमुल्लावाद से लड़ने की असली दवा है। लोकतंत्र ही मनुष्य जाति की प्रवृत्तियों और जरूरतों के बीच तालमेल बैठाने वाली सबसे सशक्त विचार एवं व्यवस्था है। अभी तक समाज के वैश्विक मानवीय मूल्यों को जोड़ने का सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक ढांचा राजनीतिक लोकतंत्र ही है।<sup>4</sup>

विभिन्न राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर अभी तक चले विचार-विमर्श के आधार पर लोगों ने सामान्य मूल्यों और लक्ष्यों वाले लोगों और समूहों का वैश्विक नेटवर्क विकसित करने पर विचार करना शुरू कर दिया है। ऐसी पहल को अंतर्राष्ट्रीय नागरिक समाज द्वारा अनेक मुद्दों पर वैश्विक या क्षेत्रीय संवाद की प्रक्रिया शुरू करने के प्रयास के रूप में भी देखा जा सकता है। ऊपर मानवीय जीवन के जिन पांच बुनियादी पहलुओं की चर्चा की गयी है, वे लोकतंत्र के सवाल पर एक अंतर्राष्ट्रीय नेटवर्क खड़ा करने का सैद्धांतिक आधार बन सकते हैं। स्पष्ट कहें तो लोकतंत्र को, जो मानवजाति के अपने भले के लिए रचनात्मक ढंग से जुड़ने की प्रक्रिया है और जिसे टुकड़ों में विभाजित नहीं किया जा सकता, ऐसे खेमों और श्रेणियों में बांटकर देखना या चर्चा करना कोई बहुत सुखद अनुभव नहीं है। लेकिन, लोकतंत्र नामक विचार से जुड़ी जटिलताओं को इन पांच पूर्वोक्त पहलुओं से समझने की कोशिश हमें समस्याओं और संभावनाओं के अनंत द्वार दिखा सकती है :

1. **दरिद्रनारायण का सशक्तीकरण ( आर्थिक लोकतंत्र )** : दरिद्रनारायण की चिंता कोई नयी बात नहीं है। माल और सेवाओं के आदान-प्रदान में, वस्तुओं के उत्पादन और उत्पादन



संबंधों में, प्रौद्योगिकी के चुनाव जैसे सभी कामों में मानव-जाति इस पहलू का ध्यान रखती आयी है। आगे भी ऐसा ही किया जाना चाहिए। इन सारे मुद्दों को लोकतंत्र का आर्थिक पहलू अर्थात् आर्थिक लोकतंत्र कहा जा सकता है।

**2. प्राकृतिक संसाधनों पर समाज का स्वामित्व और पारिस्थितिकीय पुनरुद्धार ( पारिस्थितिकीय लोकतंत्र ) :** पर्यावरण का नाश या गिरावट आज के दौर की एक सबसे गंभीर समस्या है। हवा, पानी और मिट्टी का बढ़ता प्रदूषण, अनेक जैव प्रजातियों का नाश, जैव विविधता में कमी, आजोन परत की क्षति, मौसम का मिजाज बदलना, पृथ्वी से पेड़-पौधों का कम होना अर्थात् हरियाली की चादर का सिमटना, भू-क्षरण और रेगिस्तान का बढ़ना जैसे सारे मसले इसमें आते हैं। किसी भी आंदोलन के लिए यह प्राथमिकता वाला मुद्दा होना चाहिए। लेकिन, इस संदर्भ में पश्चिम और दक्षिण देशों में काम कर रहे पश्चिमपरस्त समूहों में जो सोच-विचार चल रहा है, काम करने की जो दिशा है वह स्थानीय (ग्रामीण) लोगों से एकदम नहीं जुड़ती। अगर हम बिना सोचे-समझे उसी दिशा में काम करने जाएंगे तो संभव है कि स्थानीय तौर पर लोग न तो उन्हें समझेंगे, न उनसे जुड़ेंगे। और फिर दीर्घकाल में ऐसे कार्यक्रमों का ठीक उल्टा असर भी हो सकता है। इसलिए बेहतर नजरिया यही है कि प्राकृतिक संसाधनों पर स्थानीय लोगों का ही नियंत्रण रहे और फिर उन लोगों को पर्यावरण के नाश के खतरों और संरक्षण के लाभ जैसे मुद्दों पर सचेत करते हुए ऐसे सारे मसलों को आपस में जोड़ा जाय। प्रकृति के साथ मनुष्य का रिश्ता ग्राहक-विक्रेता का हो, या उसके नियंत्रण का हो, उसके संरक्षण का हो या नाशक का, ये सारे सवाल पारिस्थितिकीय लोकतंत्र के तहत ही आते हैं।

**3. मानवीय गरिमा की गारंटी ( सामाजिक लोकतंत्र ) :** इस बात में संदेह नहीं कि 'नवअनुदारों' द्वारा शुरू की गयी नवउदारतावादी आर्थिक नीतियों और अन्य कार्यक्रमों से इतने बड़े पैमाने पर दरिद्रता आयेगी जितनी मानव इतिहास में कभी नहीं आयी। अधिकांश मामलों में बेरोजगारी या क्षमता और जरूरत से कम काम करने की स्थिति, अस्थायी रोजगार, मजदूरों के अधिकार, काम के अवसर और प्रकृति का सवाल, वैश्विक स्तर पर मानवीय आत्मसम्मान से जुड़े मामले हैं। नवउदारतावादियों की मेज पर गिरी जूठन भले ही लोगों की बुनियादी

जरूरतों के हिसाब से काफी हो, लेकिन इस क्रम में मनुष्य होने के सम्मान भाव की बलि चढ़ जाती है। प्रभुत्वकारी नवउदारतावादी नीतियां लोभ पर टिकी हैं, वे उपभोक्तावाद और भौतिकवाद को बढ़ाकर अपना उल्लू सीधा करती हैं और लोगों को अपने आत्मसम्मान के अनुसार नैतिक फैसले लेने का विकल्प नहीं देतीं। वे मुनाफे के लिए मानवजाति के सम्मान को बलि का बकरा बनाती हैं। दलितों को, उनके नजरिये और अनुभव सहित शैतानी भूमंडलीकरण के खिलाफ लड़ी जाने वाली लड़ाई के लिए आत्मसम्मान और सामाजिक समानता के संघर्ष को मुख्य मुद्दा बनाना होगा। दलितों की वस्तुगत स्थितियों ने ही बाबा साहेब अंबेडकर समेत अनेक दलित नेताओं-विचारकों को भारत में जाति-नाश आंदोलन चलाने की ओर प्रेरित किया (दक्षिण एशिया के शेष हिस्सों में विशिष्ट स्थानीय स्थितियों के चलते अभी यह एहसास भी नहीं जगा है कि यह सामाजिक असमानता का एक महत्वपूर्ण स्रोत है)। पिछले दो दशकों में अछूत जातियों के सशक्तीकरण को बड़ी जातियों द्वारा कबूल कर लिए जाने की स्थिति में बदलाव आया है। दलित चेतना के प्रसार के साथ ही बड़ी जातियों का रुख भी कठोर हुआ है यही हाल महिलाओं में बढ़ती चेतना से भी पैदा हुआ। उनके खिलाफ हिंसा और दमन बढ़ा है। गर्भस्थ कन्या भ्रूणों तक की हत्या का बहुत साफ प्रमाण छः वर्ष तक की लड़कियों के अनुपात में आयी गिरावट है। इन मुद्दों को सामाजिक लोकतंत्र के बृहत्तर दायरे में उनकी पूरी जटिलताओं के साथ देखना चाहिए।

**4. बहुलतावादी सहअस्तित्व संवर्द्धन (सांस्कृतिक लोकतंत्र) :** इस महाशताब्दी की शुरुआत में बहुलतावादी सहअस्तित्व के समर्थन और सांप्रदायिक (या जातीय) हिंसा पर रोक का महत्व दुनिया के हर हिस्से के लोगों के लिए बहुत बढ़ा है। जब दुनिया में आर्थिक और सांस्कृतिक संकट गहराता है तब सांप्रदायिक हिंसा का अंदेशा भी बढ़ जाता है। जिन इलाकों में पर्यावरण का नाश बहुत ज्यादा हो चुका होता है वहां प्राकृतिक संसाधनों के आधार की उपेक्षा करना समस्या को ज्यादा गंभीर बना सकता है। दक्षिण एशिया में विभिन्न धर्मों, उनके अनेक संप्रदायों और जातीय समूहों के शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की एक समृद्ध और जीवंत परंपरा अभी तक रही है। आज इस परंपरा पर संकट के बादल दिख रहे हैं, इसलिए इसमें नयी जान फूंकने की जरूरत है। जनवरी 2001 में बांग्लादेश में अदालती फैसले द्वारा फतवे पर रोक लगाना सांस्कृतिक लोकतंत्र का बहुत पुख्ता प्रमाण है। हिंदुओं में

उन जनजातीय रस्म-रिवाजों को, जो ब्राह्मणवादी पोथियों में नहीं हैं, पर्याप्त सम्मान देना-दिलाना एक प्राथमिकता वाला काम होना चाहिए।

फिर सांस्कृतिक लोकतंत्र के तहत ही यूरोप और अमेरिका समेत दुनिया-भर में इतिहास लेखन में की जाने वाली अनर्गल छेड़छाड़ के खिलाफ भी अभियान चलाया जाना चाहिए। यूरोप में आज मुसलमानों को दकियानूसी कौम या बहुलता विरोधी समूह के रूप में चित्रित करने का जोर है। इस्लामी देशों और पश्चिम (यूरोपीय संघ और अमेरिका) का ध्रुवीकरण 1990 के खाड़ी युद्ध जैसे प्रकरणों से ज्यादा तेज हुआ है और ये घटनाएं इस्लामी जगत में पश्चिम विरोधी भावनाओं को तेज कर रही हैं। यूरोपीय संघ का गठन, जो पुराने औपनिवेशिक शासक देशों का जमावड़ा है, स्थिति को बिगाड़ रहा है, क्योंकि इसे इस्लामी देशों के संभावित और मजबूत दुश्मन के रूप में देखा जा रहा है। जब यूरोपीय संघ सचमुच एक संघीय देश का रूप ले लेगा, एक प्रतिरक्षा नीति और एक संयुक्त फौज से काम लेने लगेगा, तब यह धारणा और पुष्ट होगी, क्योंकि तब तक नार्डिक देशों के आ जाने से इस संघ का आकार-प्रकार तो विशाल हो ही जायेगा, इसके पास परमाणु हथियारों का भी बहुत बड़ा जखीरा हो जायेगा और यह एक सामरिक अतिमहाशक्ति के रूप में उभरेगा।

**5. लोकतंत्र का संरक्षण और संवर्द्धन (राजनीति लोकतंत्र) :** अगर राजनीतिक लोकतंत्र की निरंतर हिफाजत और रखवाली न की जाय तो इसका खुद-ब-खुद अवमूल्यन होता जाता है। अगर लोग लोकतांत्रिक ढांचे और परंपराओं की हिफाजत के प्रति मुस्तैद नहीं होंगे, तो सामाजिक प्रणाली की बुराइयों के दबाव से बचाने वाली सारी व्यवस्थाएं बेमानी हो जायेंगी। सबकी भागीदारी, प्रतिनिधित्व, कानून का शासन, सांस्कृतिक, भाषाई, धार्मिक और राजनीतिक अल्पसंख्यकों के संरक्षण तथा राजनीतिक निर्णयों की पारदर्शिता जैसी चीजों से परिभाषित होने वाले लोकतंत्र को संभालना-संवारना पड़ता है। लेकिन, आज विभिन्न संस्कृतियों, परंपराओं और व्यवस्थाओं में रहने वाली पूरी दुनिया में लोकतंत्र सिर्फ एक ही मॉडल का है - पश्चिमी उदारतावादी या बाजारी लोकतंत्र, और यह दुनिया के एक बहुत छोटे हिस्से की सांस्कृतिक-ऐतिहासिक घटनाक्रम की पैदाइश है। इसलिए इसे स्थानीय रूप देने की, पश्चिमी मान्यताओं के खिलाफ खड़ी होने वाली जो लहर दिखायी दे रही है, उसे हल्के तौर पर

खारिज नहीं किया जा सकता। यह लहर इस्लामी उभार, हिन्दुत्ववादी आंदोलन के विकास और चीन के आर्थिक-सांस्कृतिक उत्थान के रूप में दिखायी देती है। अगर दक्षिण के समाजों की शासक जमातें या दमनकारी समूह, लोकतंत्र, मानवाधिकार या महिला अधिकारों को 'पश्चिमी मूल्य' बताकर बदनाम कर रहे हैं तो यह खतरा एकदम वास्तविक लगता है कि नयी सहस्राब्दी की पहली सदी में इन मूल्यों पर गंभीर चोट होगी, इनका महत्व घटेगा।

लोकतंत्र में कोई भी चीज ऊपर से तय नहीं होती। यहां संस्थान, विचार और विचारधारा, सबका निर्धारण लोगों द्वारा ही होता है। 24 मई 1999 को, राइट लाइवलीहुड अवार्ड विजेताओं की एक बैठक सेल्जबुर्ग में हुई वहां विश्व व्यापार संगठन जैसी कोई चीज बनाने की जगह थोड़ा रुक कर गंभीर आत्मपरीक्षण करने की जरूरत बतायी गयी। यह सुझाव दिया गया कि विश्व व्यापार संगठन के काम-काज को पांच वर्षों के लिए रोक दिया जाय और इसने मानवजाति के लिए क्या-क्या नुकसान किये हैं, इसकी जांच के लिए 'नागरिक आयोग' (सिटीजंस कमीशन) बनाया जाय और दुनिया-भर में, खासकर इस व्यवस्था से नुकसान उठाने वाले समाजों में, आपसी संवाद शुरू किया जाय।

### **उत्तर-दक्षिण नागरिक समाज संवाद चेतावनी**

अनेक ऐतिहासिक और राजनीतिक कारणों से हमारे समाज में अंतर्राष्ट्रीय अनेक ऐतिहासिक और राजनीतिक कारणों से हमारे समाज में अंतर्राष्ट्रीय अनुदान और चंदों पर चलने वाली स्वयंसेवी संस्थाओं की वैधता बाहरी चंदे के बिना काम करने वाली आंदोलन में लगी जमातों से कम है। लेकिन, दलितों में काम करने वाले नागरिक समाज समूहों को कई तरह के कामों-दबावों में (जैसे स्थानीय दमन से लड़ना, विभिन्न घोषित नीतियों और कानूनों को लागू करवाना, भूमि सुधार, खेतिहर मजदूरों से जुड़े मसले, दलितों का दमन वगैरह) लगना होता है कि वे जीवन-संचालन, उसकी पहचान और आत्मसम्मान के मुद्दों को भूमंडलीकरण जैसे बड़े मसलों के साथ जोड़ कर नहीं देख पाते। एक दूसरी जटिलता यह है कि भूमंडलीकरण के खिलाफ चलने वाले संघर्षों की भाषा, उनके मुहावरे और संकेत ऐसे हैं जो दलितों के मन को छुए बगैर ऊपर-ऊपर ही निकल जाते हैं। जब तक हम हर संभव बौद्धिक, वित्तीय, मनुष्य-बल, नैतिक, आध्यात्मिक और भावनात्मक संसाधनों को इस संघर्ष के लिए नहीं

संजोएंगें, ऐसी लड़ाइयां लड़ पाना संभव ही नहीं होगा। यह दुखद सच्चाई है कि भूमंडलीकरण की सबसे बुरी मार झेलने वाले लोग इसे अपनी पहली लड़ाई बना पाने की स्थिति में भी नहीं हैं। स्थानीय स्तर पर तो बहुत साफ श्रेणियां बनाकर उन्हें सबसे नीचे रखा गया है और ये स्थितियां ऐसे संघर्ष की संभावना भी समाप्त कर देती हैं।

अभी तक प्राकृतिक संसाधनों पर अपना जीवन बसर करने वाले आदिवासी लोग भी इस मार से सबसे ज्यादा प्रभावित होने वालों में हैं। मैंने इसी आलेख में उनकी स्थिति का जिक्र कहीं और किया है। फिर भी उनके बीच से निकली राजनीतिक पार्टियां भी वैश्विक सरकार के शैतानी तर्क की गुलाम हैं। इस तर्क के अनुसार अधिकांश राष्ट्र-राज्यों के शासकों को अपने लोगों के हितों को भूलकर, अपनी नीतियों को ऐसा बनाना चाहिए जिससे उन्हें ज्यादा से ज्यादा अंतर्राष्ट्रीय विकास-अनुदान और प्रत्यक्ष विदेशी निवेश मिल सके।

आदिवासियों के बीच काम करने वाले नागरिक समाज समूह भी प्रायः स्वयंसेवी संगठनों की तरह ही काम करते हैं। चकि एकदम नग्न सच्चाइयों से जूझना पड़ता है, इसलिए मौजूदा वैकासिक मॉडल और भूमंडलीकरण के दुष्प्रभावों की उनकी समझदारी बहुत अच्छी और स्पष्ट है। इन समूहों के अपने नेटवर्क भी हैं। भूमंडलीकरण विरोधी संघर्ष में इन समूहों को विभिन्न स्तरों पर जोड़ना न सिर्फ आसान होगा, बल्कि जरूरी और स्वाभाविक भी होगा। लेकिन, ये सभी स्वयंसेवी संस्थाएं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर चलने वाले सत्ता के खेल को ठीक से नहीं समझतीं। मसलन इन आदिवासी समूहों में विज्ञान और तकनीक की कई देसी और उच्चस्तरीय परंपराएं आज तक चली आ रही हैं, जिनकी बहुराष्ट्रीय कंपनियां या उनकी तरफ से काम करनेवाले स्वयंसेवी संगठन गोपनीय ढंग से चोरी कर रहे हैं। मुश्किल यह है कि विज्ञान और तकनीक पर हावी पश्चिमी नजरिया, देसी वैज्ञानिकों और शोध संस्थानों पर भी इतना हावी हो चुका है कि वे भी अपने पारंपरिक ज्ञान और विज्ञान की उपेक्षा करते हैं। और अनुसंधान तथा विकास के अपने कार्यक्रम में उन्हें नहीं समेटते। विज्ञान के समाजशास्त्र के अध्येता शिव विश्वनाथन ने एक अंतर्राष्ट्रीय आयोजन में यह सुझाव दिया था कि दक्षिण अफ्रीका के 'ट्रूथ एंड रिकंसिलेशन आयोग' की तरह आधुनिक विज्ञान और तकनीक द्वारा किये गये नुकसानों के अध्ययन के लिए भी एक आयोग का गठन किया जाना चाहिए।

आधुनिक तकनीक के असर की संपूर्ण सच्चाई जानने के लिए उत्तर और दक्षिण के नागरिक समाजों को मिलजुल कर प्रयास करना चाहिए।

इस मामले का एक और अल्लेखनीय पहलू यह है कि भारत में देसी तकनीकों से जुड़े समुदाय प्रायः धार्मिक अल्पसंख्यक समुदाय ही हैं और इन्हें भारत समेत सारे विश्व में कठमुल्लावाद और अनुदार विचारों के उभार के चलते अपनी पहचान बचाने और सुरक्षा के सवाल से भी जूझना पड़ रहा है। भारतीय नागरिक समाज की ऐसी विविधता की चर्चा स्पष्ट कर देती है कि राष्ट्रीय स्तर से लेकर एकदम निचले स्तर तक विभिन्न सामाजिक समूहों को जोड़ कर एक संपूर्ण लोकतांत्रिक संघर्ष खड़ा करके ही हम भूमंडलीकरण विरोधी दृष्टिकोण और आंदोलन विकसित कर सकते हैं। उत्तरी देशों के नागरिक समाजों को इस क्रम में हमारे समाज के उन हिस्सों से अपना जुड़ाव बनाने वाली संस्थागत व्यवस्था दुरुस्त करनी होगी जहां अभी भूमंडलीकरण का असर बहुत ज्यादा नहीं पड़ा है। अस्सी के दशक के शुरू में किसान आंदोलन के सिद्धांतकार सुनील सहस्रबुद्धे जैसे लोग 'इंडिया' और 'भारत' के बीच अंतर किया करते थे। 'भारत' से उनका अभिप्राय समाज के उस हिस्से से था जिस पर औपनिवेशिक प्रभाव कम हैं या जहां भूमंडलीय आधुनिक ज्ञान प्रणालियों और नेटवर्कों की पहुंच नहीं हो सकी है। इस बात पर पर्याप्त साहित्य उपलब्ध है कि ये 'भारत' वाले लोग आज भी अपनी जड़ों से पूरी तरह नहीं कटे हैं और हमारे जैसे शहराती और आधुनिकता की पागल दौड़ में शामिल लोगों के मुकाबले अधिक संपूर्णता में जीवन व्यतीत करते हैं।

अभी तक उत्तरी नागरिक समाजों की तरफ से संवाद और मेलजोल की अधिकांश कोशिशें दक्षिण के देशों की उन 'बी' टीमों तक ही आकर रुक जाती हैं जो अपने यहां भी अमेरिकी उपभोक्ता स्वर्ग लाने के सपने में ही खोयी हुई हैं। उत्तर के लोकतंत्रवादियों को, खासकर वहां के नागरिक समाज के लोगों को 'इंडिया' और 'भारत' में फर्क समझना चाहिए, परंतु साथ ही उन्हें दक्षिण की बहुसंख्या को माई-बाप शैली में कृपा का पात्र मान कर देखने का नजरिया छोड़ना चाहिए। उन्हें अपने मन से यह विचार भी निकालना होगा कि वे 'इंडिया' और 'भारत' वाले विभाजन में इंडिया की तरफ से 'गड़बड़ करने वालों'

‘शोषकों’ और ‘भ्रष्टजनों’ पर नजर रख सकते हैं और भारत के पक्ष में नीतियां मनवा सकते हैं। जब तक असमान राष्ट्र-राज्यों वाली राजनीति चल रही है तब तक दक्षिण के देशों की राजनीतिक प्रक्रिया की संप्रभुता को नजरंदाज करना वांछित नहीं होगा। राजनीतिक प्रक्रिया में गैर-चुनावी काम भी शामिल होते हैं। उत्तर के हमारे साथियों को यह बात स्पष्ट रूप से जान लेनी चाहिए कि उनके संपर्क से हम बिना कोई जाखिम लिये ही नागरिक समाज के अधिक वास्तविक प्रतिनिधियों को दर किनार कर बहुत ज्यादा ताकतवर हो सकते हैं ऐसे अनेक स्वयंसेवी संगठनों का उदाहरण है जिन्होंने भूमंडलीकरण पर लोकतांत्रिक नजरिये से शुरू किया और बाद में पाला बदल कर विश्व बैंक की ‘शासन व नागरिक समाज समिति’ (गवर्नेंस एंड सिविल सोसाइटी वाली कमेटी) के सदस्य बन गये। यह दोष हम सिर्फ उत्तर के समूहों में ही नहीं देखते। बेहतर भावनात्मक आध्यात्मिक स्थितियों में भी कार्यकर्ताओं के समूह का एक हिस्सा थक जाता है।

हम दो मुद्दों को सामने लाना चाहते हैं। पहला, लोकतंत्र को नीचे से देखने-समझने के लिए जरूरी है हम प्रत्येक स्तर की विशिष्टता मानें। दूसरा, हमें प्रत्येक तत्त्वों के अस्तित्व को न तो छोटा मानना चाहिए, न ही विभिन्न स्तरों के बीच घालमेल करना चाहिए। लेकिन, भूमंडलीकरण के युग में, जहाँ भूमंडलीकरण के शैतानी पहलुओं से लड़ने के लिए एकजुट होने की जरूरत है, हमें एक दूसरे को ज्यादा अच्छी तरह, सहानुभूति से जान लेना होगा। अपने-आपको जानना भी कोई बहुत आसान काम नहीं है, लेकिन दूसरे को जानना तो सचमुच बहुत मुश्किल काम है। लेकिन, वैश्विक एकता के विचार को ऐसा रूप देने के लिए हमें अपनी स्वायतता का अपमान न करते हुए भी एक दूसरे को समझने में आपसी मदद करनी चाहिए। युद्ध, प्राकृतिक हादसों या निर्दय तानाशाही जैसी विशिष्ट स्थितियों में हमारा नजरिया एक रह सकता है, लेकिन इसका व्यवहारिक स्वरूप अलग-अलग हो सकता है यहाँ हमें गाँधीजी की वह सलाह भी याद कर लेनी चाहिए जो उन्होंने 1936 में अमेरिका से आये ईसाई कार्यकर्ताओं के समूह को दी थी। यह सलाह बताती है कि गाँधीजी आधुनिक विज्ञान और तकनीक के अंध विरोधी नहीं थे, जैसा कि अनेक जमातों के लोग ऐसा बताने की कोशिश करते हैं। गाँधीजी का कहना है :

*जब अमेरिकी लोग मेरे पास आकर पूछते हैं कि क्या वह सेवा कर सकते हैं तो मैं उनसे कहता हूँ कि अगर आप हमारे आगे अपना लाखों-करोड़ों ही दिखाते रहेंगे तो आप हमें भिखमंगा बना*

देंगे, और हमारा आत्मसम्मान समाप्त कर देंगे। लेकिन, एक मामले में मैं भिखारी बनने का भी बुरा नहीं मानूँगा। आप अपने इंजीनियरों और कृषि विशेषज्ञों को हमारे हवाले कर दें और उनसे हमारे कहे पर काम करने को कहें। वे हमारे पास स्वयंसेवक की तरह आयें, मालिक और साहब की तरह नहीं।

इन बुनियादी प्रस्तावों, उनसे निकले विश्लेषण में उभरी चुनौतियों और संभावित खतरों के प्रति सावधान रहने की आवश्यकता पर आधारित ठोस कार्रवाई के लिए ये कुछ सुझाव दिये जा रहे हैं :

1. 'लोकतंत्र और भूमंडलीकरण पर संवाद' का लंबा सिलसिला चलाने के लिए काफी हद तक टिकाऊ ढाँचों-नेटवर्कों को खड़ा करना उत्तर-दक्षिण संवाद को लोकतांत्रिक बनाने का काफी महत्त्वपूर्ण उपकरण हो सकता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सर्वहितवादी-मानवतावादी लोकतांत्रिक मोर्चा बनाने के इच्छुक और प्रयासरत लोगों और समूहों के लिए नेटवर्क खड़ा करने की तत्काल जरूरत है। लोकतंत्र को व्यापक और गहरा बनाने के लिए जरूरी हस्तक्षेप का तरीका विकसित करने के लिए हमें विभिन्न समूहों, जत्थों, संस्थाओं, नेटवर्कों, आंदोलन वाले समूहों और राजनीतिक दलों के बीच चलाते रहना होगा।

2. हमें तत्काल कुछ रक्षात्मक कदम भी उठाने होंगे। अभी तक दुनिया को अपने चंगुल में लेने का प्रसास करने वाली शक्तियों की मार से अछूती चीजों को बचाने के लिए 'फ्रेंड्स ऑव द अर्थ,' 'सर्ववाइवल इंटरनेशनल', 'इंटरनेशनल रिवर्स नेटवर्क', 'ग्रीनपीस' और ग्रीन पार्टियों जैसे संगठनों को इस पृथ्वी पर मौजूद सारी लोकतांत्रिक शक्तियों तक अपनी बात पहुँचानी चाहिए। ग्लोबल ग्रीन के हाल के सम्मेलन में मैंने ग्लोबल ग्रीन पार्टी में सुधार के रूप में एक प्रस्ताव पेश किया था। इस प्रस्ताव के पक्ष में 64 वोट पड़े और विपक्ष में 45। मेरी समझ में नहीं आया कि इस प्रस्ताव के पक्ष में दो तिहाई से थोड़े कम वोट क्यों आये जिसके चलते यह पास नहीं हो पाया। यह प्रस्ताव इस प्रकार था:

दक्षिण देशों की सभ्यताएँ हजारों वर्ष से ऐसी जीवन शैली चला रही हैं जिन्हें अब हम 'ग्रीन सिद्धांत' कहते हैं। और उस पर बारीकी से गौर करने पर पता चलेगा कि ऐसा वे तकनीकी पिछड़ेपन के चलते नहीं करती थीं। इस जीवन शैली में प्रकृति के संरक्षण और उनका चक्र निरंतर



चलने देने की सोची-समझी नीति काम करती थी। लेकिन, भूमंडलीकरण का मौजूदा स्वरूप इन समुदायों और उनकी जीवन शैली को बड़ी तेजी से रौंदता जा रहा है। ऐसे में जरूरी है कि 'ग्लोबल डेमोक्रेटिक प्रॉट' दक्षिण की 'ग्रीन कम्युनिटीज' को बचाने के लिए 'डिफेंस कमेटी' का गठन करें। अन्यथा कई हजारों वर्षों में जो चीजें विकसित हुई थी और जो परंपराएँ चल रही थीं, वे सभी अगले कुछ दशकों में ही पूरी तरह बर्बाद हो जायेंगी।

3. पूरी पृथ्वी नामक परिवार में जितने भी लोकतांत्रिक कार्य-व्यवहार चल रहे हैं, आंदोलन हो रहे हैं, सपने देखे जा रहे हैं उन सबकी पहचान करने, उनकी सूचनाओं का प्रसार करने के लिए अनुसंधान और मीडिया का स्वतंत्र नेटवर्क भी हमें खड़ा करना होगा। हमें सूचनाओं को जमा करके, विश्लेषित करने और फिर उन्हें वितरित करने का काम भी करना होगा-खसतौर से उन सभी लोगों के बीच जो अमेरिकी उपभोक्तावादी स्वर्ग की चकाचौंध के आगे कुछ नहीं देख पाते। हमें संकल्प करना चाहिए कि हम पूरी दुनिया में ऐसे मीडिया सेंटर बनाएँगे और अंग्रेजी के अलावा जहाँ तक संभव होगा, स्थानीय भाषाओं में इन सूचनाओं को वितरित करेंगे।

4. इन सारे संवादों, संस्थाओं और नेटवर्कों के निर्माण से लोकतंत्र के विस्तार, गहराई और रक्षा के लिए एक विश्वव्यापी मोर्चा बनाना चाहिए। यह मोर्चा बौद्धिक सक्रियता और संगठन निर्माण के आधार पर खड़ा हो सकता है। संगठन बनाने का काम सिर्फ बौद्धिक सक्रियता से नहीं हो सकता। गाँधीजी के सिविल नाफरमानी के हथियार का प्रयोग करके ही वैचारिक ढाँचा और नेटवर्क खड़ा कर सकते हैं।

## टिप्पणियां

1. स्वराज की अवधारणा और शब्द का इसी अर्थ में भारत में चलने वाले गांधी प्रेरित आंदोलनों द्वारा प्रयोग होता है।
2. इस भूमंडलीकरण का शैतानी चरित्र इसके इस केंद्रीय तत्व में परिलक्षित है। इसने मनुष्यजाति के लिए ऐसी स्थितियां बना दी हैं, जिसमें वह रोटी-कपड़ा जैसे व्यावहारिक मुद्दों व अपने आदर्शों और सपनों की बात को गंभीरता से उठा ही नहीं पाती। इतनी

राजनीतिक आजादी और हर तरह के राजनीतिक दर्शनों के होते हुए भी भारतीय राजनीतिक दलों ने विश्व व्यापार संगठन से जुड़े मुद्दों पर ढंग से विचार ही नहीं किया (हिंदू, संपादकीय, 30 मई 2001)। यह मान लिया गया कि भूमंडलीकरण का कोई विकल्प नहीं है। गांधीजी ने जिसे 'आधुनिक उद्योगीकरण का शैतानी पहलू' करार दिया था, उसे अब भूमंडलीकरण के लिए सर्वानुमति के रूप में पेश किया जा रहा है। 'अमेरिकी उपभोक्ता के स्वर्ग' के रूप में यह शैतान काफी सारे लोगों और नेताओं का आदर्श बना हुआ है। यूरोप में अनुदारों से लेकर ग्रीन्स तक सभी भूमंडलीकरण के पीछे इस तरह पड़े हैं मानो 'अमेरिकी उपभोक्ता के स्वर्ग' द्वारा परमानन्द व स्वच्छंदता का सपना कोई हासिल हो सकने वाला लक्ष्य हो, दुनिया के बहुसंख्यकों के लिए कोई मृगमरीचिका नहीं।

3. भूमंडलीकरण के नाम पर दुनिया को एकध्रुवीय बनाने की इच्छा भी काम कर रही है। 19 नवंबर 1999 को 'इवेलुएशन एंड इंटरैक्शन ऑव टेक्नॉलाजी, इकॉनॉमी, पॉलिटी एंड सोसाइटी' विषय पर हुए अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन को संबोधित करते हुए भारत के राष्ट्रपति ने इस प्रवृत्ति के खिलाफ सही चेतावनी दी थी : "भूमंडलीकरण की वर्तमान प्रवृत्ति बुनियादी पहचानों और समूहों की पहचान के खिलाफ है और अब तो राष्ट्रों को भी भूमंडलीकृत विश्व के लिए पुराने जमाने की चीज और इससे मेल न खाने वाली व्यवस्था बताया जा रहा है। मुझे नहीं लगता कि यह सही दिशा में की जा रही प्रगति है। मानव सभ्यता काफी कुछ राष्ट्र के रूप में हुए सामूहिक अनुभवों से जुड़ी है। ऐसे में अगर भूमंडलीकरण राष्ट्रवाद को पीछे धकेलने वाली चीज बन जाता है तो मनुष्य जाति द्वारा किया गया अधिकांश मूल्यवान अनुभव इस भूमंडलीकरण द्वारा यूं ही पीछे छोड़ दिया जायेगा। इसलिए जरूरी है कि जब पूरी दुनिया एक विश्व की तरफ बढ़ रही है और हम निश्चित रूप से वैश्विक होते जा रहे हैं तब विभिन्न समुदायों, राष्ट्रों और समूहों द्वारा किये गये अनुभवों को संभाल कर रखा जाय और भूमंडलीकरण के नाम पर नष्ट न किया जाय।" (राष्ट्रपति के.आर. नारायणन, 2002)

4. भारत में 'वसुधैव कुटुंबकम्' जमात के प्रमुख प्रोफेसर धीरूभाई शेठ का मानना है कि मनुष्यजाति को उसकी भौतिक जरूरतों के हिसाब से ही परिभाषित करना उसका बहुत बड़ा अपमान है। उनके अंदर नैतिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक रुझान भी मौजूद रहते हैं। 'वसुधैव कुटुंबकम्' के शुरूआती प्रस्ताव पर टिप्पणी करते हुए प्रमुख भारतीय मानवशास्त्री प्रो. बी.के. राय बर्मन ने कहा है कि "मानवशास्त्र की मेरी समझ मुझे यह मानने को मजबूर करती है कि मानवीय प्रकृति बुनियादी रूप से सामाजिक है। और मैं ... चोम्स्की से सहमति रखता हूँ कि इसी प्रवृत्ति के चलते मनुष्य नैतिक संबंध बढ़ाता है, संवाद करता है, सांकेतिक संचार से अपनी बात बढ़ाता है ... इस आनुषंगिक जीवन मूल्य आधारित व्यवस्था का ही दूसरा नाम लोकतंत्र है - यह अनवरत चलने वाले दुतरफा रिश्ते की प्रक्रिया है। जिम्मेदारी वाले लोकतंत्र के प्रति निष्ठा का मतलब किसी बनी-बनायी व्यवस्था को कबूल करना न होकर निरंतर चलने वाली सामाजिक प्रक्रिया के प्रति निष्ठा है।"

यह लेख विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सी.एस.डी.एस.) की ओर से लोक चिंतन ग्रंथमाला के तहत अभय कुमार दुबे द्वारा संपादित एवं वाणी प्रकाशन द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'भारत का भूमंडलीकरण' में संकलित है।

## लोकतांत्रिक विमर्श की परवाह

हम राजनीति एवं समाज परिवर्तन के ऐसे दौर से गुजर रहे हैं जहां हर विचारधारा एक भीतरी संकट से जूझ रही है। यह संकट एक अवसर भी है हर विचारधारा को मांजने का। इस अंक में हमने लोकतंत्र के मूल्य विचार या उसके औपचारिक ढांचे की समीक्षा करने की कोशिश नहीं की है। न्यायपालिका, कार्यपालिका और विधायिका लोकतांत्रिक राज्य के तीनों अंगों के बारे में बहस के अतिरिक्त देश में मीडिया की क्या भूमिका है, आंदोलन समूहों की क्या भूमिका है, एनजीओ की भूमिका पर क्या विमर्श चल रहा है, बौद्धिक वर्ग किस तरह की भूमिका निभा रहा है, सामाजिक तबकों के हिसाब से देखें तो दलित, पिछड़े, औरत के लिये लोकतंत्र के क्या मायने हैं इन सवालों पर कुछ सामग्री तो आप इस अंक में पाएंगे लेकिन लोकतंत्र का कैनवास इतना व्यापक है कि उसको एक अंक में समेटना मुश्किल काम है।

यह अंक कार्यकर्ताओं का एक आपसी विमर्श है। इसमें समाजवादी संगठनों में सक्रिय और समाजवादी विचारधारा को अभी भी प्रासंगिक मानने वाले साथियों से लिखवाने की कोशिश की गई है। समाजवादियों के अतिरिक्त मार्क्सवाद से प्रेरित कई महत्वपूर्ण साथियों ने भी इस अंक में लिखा है। भाकपा (माले-लिबरनेशन) के महासचिव श्री दीपांकर भट्टाचार्य के हम विशेष रूप से आभारी हैं। हमने तमाम मित्रों से कहा था कि लोकतंत्र के जिस पहलू पर वे पिछले दस-बीस वर्षों से शिद्दत से सोच रहे हों और जिस पर ज्यादा काम किये हों उसी को खूंट बनाकर अपनी बात लिखें। हमारा मानना है कि अभी एक बंधे-बधाये अकादमिक ढांचे में लोकतंत्र पर विमर्श संभव नहीं है। हालांकि इस वस्तुस्थिति को नकारा नहीं जा सकता कि लोकतंत्र की सोच में बहुत जटिलता तथा विविधता आयी है। देश की बहुस्तरीय और बहुआयामी सांस्कृतिक और राजनैतिक विविधता के मद्देनजर हर अंचल की अलग-अलग राजनैतिक जरूरतें हर तबके के अलग-अलग सपने और अलग-अलग राजनैतिक आकांक्षाएं हैं। इसको लोकतंत्र के सपने का विखंडन भी कह सकते हैं और मंथन का अभूतपूर्व दौर भी !

‘सामायिक वार्ता’ मूलतः सामाजिक राजनैतिक कार्यकर्ताओं की पत्रिका है। हमारी कोशिश है कि इस विमर्श के माध्यम से जनता के बीच लोकसंग्रह के काम के लिये हम एक साझे सपने के साथ जा सकें। सपने एकरूप न भी हों लेकिन एक-दूसरे के सपने एवं उसके तर्क को जिस हद तक हम समग्र रूप में पहचानेंगे, उस हद तक हमारी पहचान ज्यादा सशक्त दिखेगी। क्योंकि अलग-अलग घेरे में, अलग-अलग भौगोलिक अंचल में काम करने की वजह से हम लोग अलग-अलग कामों में लगे हुए हैं। उसका संगठन के स्तर पर और समाज के स्तर पर जो कुल असर होना चाहिये वह काफी छितरा हुआ है। जब समाज में राजनीति को लेकर तरह-तरह की शंकायें पैदा की जा रही हों, राजनीति और लोकतंत्र दोनों पर ही देशज बाजार, अंतर्राष्ट्रीय ताकतों, साम्प्रदायिक और फासीवादी ताकतों का हमला हो, चाहे वह देशज बाजार का हो चाहे अंतरराष्ट्रीय ताकतों का हो चाहे सांप्रदायिक और फासीवादी ताकतों का हो जैसे में लोकतंत्रवादी जितनी भी जमातें हैं समतावादी जितनी भी जमातें हैं उनको एक साझे सपने के लिये राष्ट्रीय स्तर पर ठोस असरदार ढंग से हस्तक्षेप की राह खोजनी होगी। इसलिए इस अंक के माध्यम से वार्ता के कार्यकर्ताओं से विशेष अपील करना चाहता हूँ कि वे इस अंक पर अपनी टिप्पणी जरूर भेजें।

लोकतंत्र के विमर्श के संदर्भ में कार्यकर्ताओं की महती भूमिका है। आज कार्यकर्ताओं का सामाजिक आधार काफी विविध है। सामाजिक क्रांति के हिसाब से देखा जाये, मतदाता को एक इकाई माना जाये, तो कुछ मायनों में यह भारत के लोकतंत्र का स्वर्णिम युग है। इतने बड़े पैमाने पर दलित, पिछड़े, शोषित तबकों ने देश के राजकाज में साझीदार का, सत्ता में भागीदार बनने का सपना कभी नहीं देखा होगा जितना आज के दौर में देखा है। देश का बहुजन आज यह सोच सकता है कि उन्हीं में से निकला हुआ कोई व्यक्ति राज्य का मुख्यमंत्री होगा, जिलाबोर्ड का अध्यक्ष होगा, देश का राष्ट्रपति होगा। देश के शासक गठबंधन की सबसे बड़ी पार्टी को अपना अध्यक्ष भी दलित को ही बनाना पड़ा है। यह बात सोचकर रोमांच पैदा होता है कि ब्राह्मणवाद को, मजबूरी में ही सही, एक दलित को अपना नेता मानना पड़ा। इसमें भी लोकतंत्रवादियों का, सामाजिक समतावादियों का बहुत बड़ा योगदान है। पिछड़ी जातियों की हाल-हाल तक समाज में उपस्थिति भी नहीं मानी जाती थी, किसी गांव के बारे में कहा जाता था कि ठाकुर का गांव है, या ब्राह्मणों का गांव है, चाहे उस गांव में

वे संख्या बल के आधार पर थोड़े ही क्यों न हों। पूछिए कि यह किसका गांव है, तो जो आधिपत्य वाली जाति होगी, वह उसे अपना बता देगी। लेकिन अब यह संभव नहीं है: कम से कम वोट के मामले में अब दलित, पिछड़े और अल्पसंख्यक खुद निर्णय करने की स्थिति में हैं। उन पर किसी का दबाव पहले जैसा नहीं रहा है। हालांकि बात सीधी-सरल भी नहीं है कि दलित अपने फैसले खुद ही करतै है। उसके मानस पर विभिन्न दबावों से इनकार नहीं किया जा सकता। जो व्यवस्थावादी प्रचारतंत्र है वह दलितों में एक ऐसा अस्मिता का भाव पैदा करता है ताकि दलित वर्गहित की बहस कमजोर पड़ जाये और खोखली दलित अस्मिता, एकांगी दलित अस्मिता पैदा हो और उसके नाम पर दलित किसी एक राजनैतिक दल से, पिछड़ा दूसरे राजनैतिक दल से और गरीब अगड़ा तीसरे राजनैतिक दल से अपना संबंध बना ले। अस्मितावाद के जिस दौर में हम हैं उसमें अंध अस्मितावाद की एक आंधी सी चल पड़ी है। जो फैसला दलित खुद करता दिख रहा है वह दरअसल इसी आंधी के चलते जो मानस बनता है, उसी के कारण होता है। इसलिये संपूर्णता में यह फैसला लोकतांत्रिक नहीं है। एक अर्थ में इसमें लोकतंत्र का संभ्रम है तो दूसरे अर्थ में यह संभावना भी कि आज दलित नेतृत्व के मामले में स्वावलंबी हो गया है। इस स्थिति को हम केवल एक आदर्श और सपने की कसौटी पर जांचते हैं तो यही नतीजा निकलता है कि लोकतंत्र का अनितिवादी, अंध अस्मितावादी दौर है जिसमें जनता के वास्तविक सवाल मौन हो गये हैं। हालांकि अतीत में दलितों और पिछड़ों की स्थिति के बरक्स आज जिस पैमाने पर सत्ता में उनकी भागीदारी हुई है वह अपने आपमें किसी बड़ी क्रांति से कम नहीं है। और यह क्रांति किसी बड़े खून-खराबे के बिना हुई है। मार्क्सवादी जो आर्थिक वर्ग संघर्ष के आधार पर ही क्रांति को परिभाषित करते थे उन्होंने समाज की जातिगत विद्रुपताओं को नजरअंदाज किया था। इसलिए आज वे इस क्रांति का सही-सही आंकलन नहीं कर पा रहे हैं। लेकिन समाजवादी विरासत को मानने वाले कार्यकर्ता भी इस क्रांति को अनदेखा करें तो यह विडंबना ही कही जाएगी।

लोकतंत्र के इस विमर्श को आगे बढ़ाने से पहले एक बात साफ कर देना जरूरी है। अभी हमारे बौद्धिक समुदाय का जो सामाजिक आधार है वह आमतौर से अगड़ी जातियों का है और उसमें भी ब्राह्मण बहुल मध्यम वर्ग का है। और जो सामाजिक क्रांति हुई है, उससे

जीवन के कई क्षेत्रों खासकर बौद्धिक कार्यकलाप में इन वर्गों का एकाधिकार टूटा है या टूटता जा रहा है। इस लोकतांत्रिक क्रांति की वजह से बहुत सी अवधारणाओं को चुनौती दी जा रही है। ध्यान रखने योग्य बात यह है कि लोकतंत्र के विमर्श में कार्यकर्ताओं की खासकर जो अब तक दबाकर रखे गये तबके हैं उनके चिंतनशील कार्यकर्ताओं की विशेष भूमिका है। उनको अपने अनुभव, चिंतन और सपने वैचारिक बहसों में जरूर मुखरित करने होंगे। उनकी अभिव्यक्ति से ही नये परिप्रेक्ष्य में, समाजवाद और लोकतंत्र की पुनर्परिभाषा की जा सकेगी। यहां मैंने समाजवाद का भी जिक्र किया है। यह साफ कर देना जरूरी है कि भारतीय समाजवादी आंदोलन ने हमेशा लोकतंत्र और समाजवाद को, समता और लोकतंत्र को एक ही सिक्के के दो पहलू माना। यानी लोकतंत्र और समता अविभाज्य हैं। अगर समग्र किस्म का लोकतंत्र अएगा तो उसमें सभी तरह के समत्व के भाव के बारे में सोचना होगा और उसे मूर्त रूप देने के लिए नई संस्थाएं स्थापित करनी होंगी। पुरानी संस्थाओं जैसे जाति की संस्थाओं के क्षरण को समझ कर नये संदर्भों में नयी सामुदायिकता, समत्व, साझेदारी वाले प्रत्यक्ष लोकतंत्र के मूल्य आत्मसात करते हुए, व्यक्ति स्वतंत्रता एवं समूह-धर्म की नई मर्यादाएं गढ़नी होंगी। समाजवादी आंदोलन में ऐसी तड़प थी।

यहां हम समाजवादी आंदोलन का मूल्यांकन नहीं कर रहे हैं। लेकिन समाजवादी आंदोलन की जो वैचारिक दिशा रही है उसके बारे में कहीं कोई भूल-चूक या हीनता बोध नहीं होना चाहिये। स्वतंत्रता आंदोलन के समय की कांग्रेस को छोड़ दें तो समाजवादी धारा ही ऐसी धारा है जिसने देशज मुहावरे देशज सोच आम लोगों की भागीदारी से लोकतंत्र को बहुआयामी व बहुस्तरीय बनाने की कोशिश की है। धार्मिक-विविधता वाले भारत जैसे विस्तृत देश में यह केवल अकादमिक लोगों के वश का नहीं है। उनको यूरोप-अमेरिका के बौद्धिक फैशनों की भी चिंता करनी होती है। अपनी सामाजिक पृष्ठभूमि और अकादमिक सीमाओं के कारण राजनीति शास्त्र लोकतंत्र को समग्र रूप में समझने के लिए अधूरा शास्त्र है। इसलिये राजनीतिशास्त्रियों और अकादमिक लोगों के योगदान से लोकतंत्र पर एक समग्र किस्म का चिंतन विकसित नहीं हो सकता। यह बात सामान्य तौर पर भी सच है कि क्रांति का दर्शन तो कार्यकर्ता ही गढ़ते हैं। लोकतंत्र किसी क्रांति से कम नहीं है। इसके दर्शन को गढ़ने के लिये अकादमिक लोगों की जो ट्रेनिंग है उसकी मदद लेनी है, उनसे संवाद करना है। लेकिन

राजनीतिशास्त्र की हमारी जाति व्यवस्था के कारण जो विशिष्ट सीमाएं बनती हैं उनको भी ध्यान में रखना है। यहां अपने आपको एक चेतावनी देना जरूरी है। बौद्धिक लोग सच के जिस कोने को पकड़ पाएंगे हम लोग शायद नहीं पकड़ पाएंगे। अधिकांश बौद्धिक, विचारों को लेकर चल रही क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं का अच्छा हिसाब किताब रखते हैं, जैसे एक ईमानदार मुंशी पैसे-पाई का बहुत अच्छा हिसाब-किताब रखता है। ये न तो विचार सृजन करते हैं, न ही अपने कर्म से कोई नई परिस्थिति या विचार गढ़ते हैं। लेकिन कार्यकर्ता सपना देखता है। उसका एक सपना होता है समाज के बारे में। वह अमूमन अपने सपने से ज्यादा प्रेरित होता है। जैसे सावन के अंधे को हरा-हरा ही दिखता है वैसे ही राजनैतिक कार्यकर्ता को हर घटना या मुद्दे में अपने सपने को सच करने की संभावना दिखती है। तो हम सब लोग सत्य के जिस कोने को पकड़ते हैं उसमें कई बार हमारे सपने की प्रेरणा ज्यादा रहती है। लोकतंत्र के विमर्श में जहां विचारधारा से प्रतिबद्ध लोगों की एक विशिष्ट भूमिका है वहीं एक विशिष्ट सीमा भी है। इसलिए हम भले अकादमिक लोगों को हिसाब-किताब रखने वाला मुंशी भर मानें, लेकिन जो काम वे अपने प्रशिक्षण से, विचारों का हिसाब किताब रखने की एक कला से कर सकते हैं वह हम नहीं कर सकते। और जो हम कर सकते हैं, वह वे नहीं कर सकते। इसलिये दोनों के आपसी संवाद से ही लोकतंत्र के बारे में समग्र विमर्श संभव है।

लोकतंत्र विमर्श पर असर डालने वाली एक और विडंबना की चर्चा जरूरी है। 19 वीं सदी के अंत और 20 वीं सदी के प्रारम्भ से अनेक विचारधाराएं आयीं- उदारपंथ, मार्क्सवादी समाजवाद या फिर भारतीय संदर्भ में देखें तो एक देशज लोकशक्तिकरण का एजेण्डा जो गांधी जी ने 'हिन्द स्वराज' से शुरू किया और उसको अलग-अलग पड़ावों के जरिए बहुत आगे तक बढ़ाया गया है। लेकिन विडंबना यह है कि इन सब विचारधाराओं को मानने वाले या उन पर प्रयोग करने वाले लोग आज राजनीति के केंद्रीय मंच से नदारद हैं जबकि आज जैसा राजकाज के तंत्र से जुड़ने का, प्रधानमंत्री या मुख्यमंत्री बनने का सपना इतने बड़े पैमाने पर शायद ही कभी मुल्क में देखा गया हो। ऐसा नहीं है कि उन तबकों से, जिन्हें आज हम दलित या पिछड़ा कहते हैं, इससे पहले शासक नहीं हुए। लेकिन यह कैसी विडंबना है कि जब उनका शासन आया तो अन्य जातियों और तबकों ने अपने को राज-काज से अलग कर



लिया। आज नागरिक होने मात्र से आपको राजकाज में भागीदारी का अधिकार मिल जाता है और मतदान उसकी पहली सीढ़ी है। लेकिन जिन विचारधाराओं, जिन सपनों की जमीन खड़े होकर पिछले सौ-डेढ़ सौ वर्षों में संघर्ष किए गए और जिन संघर्षों से यह अनोखी लोकतांत्रिक क्रांति संभव हो पाई, उन नेताओं, उन विचारकों के प्रति उदासीनता, संशय व तिरस्कार का भाव देखने को मिलता है।

लोकतंत्र की क्रांति का एक और आयाम है लोगों में ठहराव का टूटना। डा. राम मनोहर लोहिया के भाषणों का केन्द्रीय सरोकार रहा है कि भारतीय समाज की जड़ता कैसे तोड़ी जाए। उन्होंने नारा दिया कि 'जिंदा कौमें पांच साल इंतजार नहीं करती', 'जीना है तो मरना सीखो, अपने हक पर लड़ना सीखो' वगैरह। ये नारे जे. पी. आंदोलन में काफी लोकप्रिय हुए। लोहियाजी ने 'विल टू पावर' में हमें सत्ता के लिए संकल्पवान होना सिखाया। 'सात साल में हम हिन्दुस्तान की सत्ता बदल देंगे' अब तो हर दो तीन साल में हिन्दुस्तान की सत्ता बदल रही है। भारतीय राजनीति की जड़ता का इस तरह टूटना अपने आप में लोकतंत्र की एक उपलब्धि है और इन उपलब्धियों में समाजवादियों की एक सक्रिय भूमिका रही है। लेकिन विडंबना यह है कि समाजवादी अपनी वैचारिक और अपने नेतृत्व की थकान के चलते, आपसी झगड़ों के चलते दलित और पिछड़ों में सत्ता की आकांक्षा के लिए विस्फोट व लोकतांत्रिक क्रांति की बाढ़ को संजो नहीं पाए। जैसे बाढ़ आने पर चारों तरफ पानी ही पानी दिखता है लेकिन प्यास बुझाने के लिए पानी नहीं मिलता वैसे ही आज लोकतंत्र का चारों तरफ विस्फोट है। लोकतांत्रिक अभिव्यक्तियों का जैसे बांध टूट गया है। हर व्यक्ति कुछ न कुछ चाह रहा है, हर वर्ग में एक घबराहट है, चिंता है, कुछ करने की इच्छा है, कुछ रास्ता खोजने की कोशिश है जो बने-बनाए रास्ते थे, बनी-बनाई विचारधाराएं थीं, संगठन थे, वे सब अधूरे जान पड़ रहे हैं। समाजवाद के वारिसों का दावा है कि आज की जो साकारात्मक उपलब्धियां हैं उसमें हमारा निर्णायक योगदान है। लेकिन आज पूरे देश में एक भी ऐसा समाजवादी संगठन नहीं है जो निर्णायक रूप से असर डाल सके या कोई एक मुद्दा भी प्रभावी ढंग से उठा सके। लोकतंत्र के किसी भी विमर्श में इस विडंबना पर ध्यान देना जरूरी है कि एक तरफ लोकतंत्र की बाढ़ आई है और दूसरी तरफ लोकतंत्र नामक पानी से प्यास

बुझाने के लिए कोई संस्था, दल, विचारधारा सक्षम नहीं नजर आती। इस समस्या पर एक गंभीर, सुचिंतित विमर्श की शुरूआत हो, यही हमारे इस अंक का एक उद्देश्य है।

वार्ता में चलने वाली बहसों से अंततः लोकतंत्र की समग्र, सुचिंतित और सर्वमान्य परिभाषाएं विकसित हों, यही हमारी कोशिश होनी चाहिए। जब हम 'सर्वमान्य' कहते हैं तो हमारा आशय लोकतंत्रवादियों की अपनी बिरादरी की परिभाषा से है। लोकतंत्र में तो कभी संभव ही नहीं होगा कि किसी एक की परिभाषा सर्वमान्य हो। उदारपंथियों की परिभाषा को समाजवादियों ने कभी स्वीकार नहीं किया। उदारपंथी परिभाषा में केवल राज काज कैसे चलेगा सिर्फ यही चिंता होती है यानी उसकी संस्थाएं कैसे काम करें, उसमें हर एक को भागीदारी का एक औपचारिक अधिकार, वोट का अधिकार हो, दल अपने विचारधारा के अनुसार काम कर सकें, समय के अनुसार चुनाव हो, कानून का राज हो, मानवाधिकारों की सुरक्षा हो, अल्पसंख्यकों को उनके सांस्कृतिक सामाजिक अधिकार हासिल हों, आम व्यक्ति के प्रति राज्य जवाबदेह हो और इस जवाबदेही को ठोस बनाने के लिए सूचना का अधिकार, प्रतिनिधियों को वापसी का अधिकार हो, चुनाव सुधार किए जाएं, चुनावों में पैसा कम खर्च हो चुनावों में गैर राजनैतिक मुद्दे न उठा दिए जाएं आदि-आदि। परंतु भारत ही क्या दुनिया में मानव समाज के किसी भी कोने में चले जाएं, लोकतंत्र की अगर इतनी ही परिभाषा रहे तो यह सतही परिभाषा होगी और लोकतंत्र के नाम से अभिजनवाद चलेगा। इस तरह के लोकतंत्र के आवरण में कैसे अभिजनवाद चल सकता है, इस बारे में समाजशास्त्रियों, राजनीतिशास्त्रियों और दार्शनिकों ने काफी कुछ लिखा है। अमरीकी समाज के समालोचक और टिप्पणीकार चॉम्स को इस मुद्दे पर काफी अध्ययन है कि किस तरह अमेरिका का प्रभु वर्ग छोटे से सामाजिक आधार में सिकुड़ कर रह गया है।

हमारे यहां के अकादमिक लोग तो लोकतंत्र के सामाजिक-सांस्कृतिक पक्ष पर केवल इसलिए ध्यान नहीं रखते कि मूलतः राजनीतिशास्त्र उदारपंथ-प्रेरित है बल्कि इसलिए भी कि आमतौर से उनका चरित्र उच्च जाति तथा मध्यम वर्गीय है। राजनैतिक विमर्श में शामिल राजनेता भी आमतौर से अगड़ी जातियों के हैं और वे बाबा साहब अंबेडकर की इस बात को अनदेखा करते हैं जो उन्होंने 'गांधी, रानाडे और जिन्ना नामक' अपने भाषण में कही थी, "एक

लोकतांत्रिक ढंग की सरकार यह मानकर चलती है कि समाज का स्वरूप भी जनतांत्रिक है। लोकतांत्रिक सरकार के औपचारिक ढांचे का तब तक कोई अर्थ नहीं है और यह तब तक अनुपयुक्त है जब तक कि सामाज में लोकतंत्र नहीं है।” बाबा साहब अंबेडकर जल्दी ही इस दुनिया को छोड़कर चले गए और दलितों के दूसरे बड़े नेता जगजीवन राम जी, कांग्रेस में अपने सत्ता बनाए रखने में ही ज्यादा सक्रिय रहे। दलित समाज एक स्वायत्त शक्ति के रूप में खड़ा हो इसके लिए जातिवाद पर, जाति व्यवस्था पर तीखा और लगातार हमला उन्होंने नहीं किया। ना ही आजादी के बाद उनका गांधी की अंतोदय और सत्याग्रह की परंपरा से कोई संपर्क रहा। अलबत्ता 1955 के बाद समाजवादियों की अलग पहचान बनाने की कोशिश में डा. राममनोहर लोहिया ने जाति के सवाल को तीखे ढंग से उठाया। उन्होंने विशेष अवसर के सिद्धांत का विस्तार दस्तकार जातियों, किसान जातियों अन्य पिछड़े वर्गों के लिए भी किया उनके विशेष अवसर के सिद्धांत की विशेषता यह थी कि उसमें जाति के साथ-साथ इसकी भी पहचान थी जाति और स्त्री-पुरुष भेदभाव के कटघरे किस तरह से एक दूसरे को पुष्ट करते हैं। उसमें स्त्रियों के लिए आरक्षण की बात भी की गई थी, अल्पसंख्यक और दस्तकार जातियों के लिए भी आरक्षण की बात की गई थी। दलित, पिछड़े, मुसलमान, आदिवासी और महिलाओं के साझे संघर्ष से सामाजिक क्रांति की कल्पना की गई थी। कई तरह के पड़ावों से गुजरती हुई समाजवादियों की सक्रियता के कारण 7 अगस्त 1990 को विश्वनाथ प्रताप सिंह को मंडल आयोग की सिफारिशें माननी पड़ी। लेकिन दुर्भाग्य से उस समय के राजनैतिक नेतृत्व ने मंडल आयोग को जाति तोड़ो का औजार न बनाकर, उसको अंध अस्मितावाद और व्यक्तिगत सत्ता संघर्ष का औजार बना दिया। दलित और पिछड़ों के साझे नेतृत्व को खड़ा करने का काम भारत के मंडलवादी दलितों ने और पिछड़ों ने नहीं किया। बल्कि तमाम महत्वपूर्ण पिछड़े नेता दलितों से भी कोई सत्ता के साझेपन की, सत्ता को परिवर्तन के लिए कोई साझा कौशल नहीं बना पाए। इसका परिणाम यह हुआ कि अगड़ी जातियों से जितनी सत्ता खोई नहीं, उससे ज्यादा उनको उसका भय लगने लगा। उनमें एक तरह की प्रतिक्रिया पनपी और अगड़ी जातियों का एक बड़ा हिस्सा हिन्दू अस्मितावाद के चक्कर में पड़ गया। कई तरह की अंतर्राष्ट्रीय ताकतों ने भी हिन्दू अस्मितावाद को इस तरह बढ़ावा दिया ताकि व्यवस्था परिवर्तन का, समाज के ढांचे में बुनियादी परिवर्तन की शुरुआत न हो। आज की राजनीति के मुहावरे में सामाजिक क्रांति की बात होती है लेकिन उसमें क्रांति का तत्व ही गायब है। जाति या संप्रदाय की पहचान पर लोगों को जुटा सकने की क्षमता से

एक दूसरा बड़ा नुकसान यह हुआ है कि इससे राजनीति में अब भ्रष्टाचार और नैतिकता के सवाल को उठाना मुश्किल हो गया है। जबकि ब्राह्मणवादी ताकतों ने इसे पुरजोर ढंग से उठाया है। इस तरह ऐसा वातावरण बना दिया गया है कि पिछड़ा और दलित नेतृत्व भ्रष्ट है। उस वातावरण के कारण मौजूदा राजग सरकार सुखराम जैसे तमाम भ्रष्ट कांग्रेसियों को साथ लेकर चलने की निर्लज्ज प्रदर्शन कर पाती है।

सत्ता मद में पागल दलित और पिछड़ों का एक हिस्सा भी ब्राह्मणवाद से एक संधी करके चल रहा है। इससे राजनीति में भ्रष्टाचार के खिलाफ लड़ने का संकल्प आज देश के अभिजन और मध्यम वर्ग में नहीं दिख रहा है। और अगर तंत्र भ्रष्ट होगा, अगर कानून का राज नहीं होगा, तो सबसे ज्यादा नुकसान स्वाभाविक है कि गरीब दबे कुचले और वंचित वर्गों को ही होगा।

हम लोग मानते हैं कि समाजवादी आंदोलन का बिखरना और उसके बिखरने के कारणों की एक साझी समझ होना जरूरी है। समाजवादियों की क्रांति के लिए संगठन के मोर्चे पर लगभग संपूर्ण असफलता एक पहली भी है और त्रासदी भी, जिसके बारे में लोकतंत्र पर विचार करते हुए आवश्यक रूप से विचार होना चाहिए। समाजवादी चेतना या समाजवादी मुद्दों के लिए समाजिक सक्रियताएं तो मिल जाएंगी लेकिन एक समग्र समाजवादी विचार के आधार पर एक समग्र किस्म का राजनैतिक औजार इस समाज में नहीं है। एक समाजवादी दल था जो लोकतंत्र को मानता था, बल्कि लोकतंत्र के अतिवाद को मानता था। लेकिन स्तालिनवाद की प्रतिक्रिया में लगभग अराजकतावाद के वैचारिक रुझानों को अपने में आत्मसात करने के कारण ही शायद यह हुआ कि आज समाजवादी संगठन नाम की कोई चीज नहीं रही। मैं नेतृत्व की अवधारणा के बारे में लोहिया जी की एक टिप्पणी जरूर दर्ज कराना चाहूंगा कि “भविष्य में आने वाला नेतृत्व राष्ट्रीय स्तर का नहीं होगा। अब हमारा समाज जो नेता पैदा करेगा वह गांव का होगा, जिले का होगा”। मुझे लगता कि यह भविष्यवाणी सच हो गई है।

जिनके सरोकार राष्ट्रीय हैं, जिनका नजरिया राष्ट्रीय है उनको अपनी संगठन दृष्टि और संगठन शास्त्र ऐसे विकसित करना होगा जिसमें भारतीय मनीषा का इस्तेमाल किया जा सके। मैं इस बात का खुलासा दो शब्दों के व्यवहार से स्पष्ट करना चाहूंगा। भारतीय भाषाओं में 'जाति' का दो अर्थों में इस्तेमाल किया जाता है। एक तो कुल से थोड़ा विस्तृत जो दायरा है, गोत्र के बाद का उसको भी हम जाति कहते हैं और दूसरी ओर यह और विस्तृत अर्थ में प्रयोग होता है यानी ब्राह्मण वर्ण भी जाति है, मानव भी जाति है, हमारी कौमियत यानी भारतीय होना भी एक जाति है। एक ही शब्द अलग अलग संदर्भों में अलग अलग स्तरों पर और जागतिक स्तर तक इस्तेमाल किया जाता है। ठीक उसी तरह से राष्ट्रीयता को हम देख सकते हैं। हमने राष्ट्र, राष्ट्रीयता और देशभक्ति को भूगोल में बांधा नहीं है, उसमें एक अलग किस्म का लचीलापन है। 'वसुधैव कुटुंबकम' का वाक्यांश हर किसी ने सुना होगा। इसका अर्थ सिर्फ यह नहीं है कि पूरी वसुधा कुटुंब की भांति है। इसका अर्थ यह भी है कि कुटुंब में भी संगठन के वे सभी सिद्धांत और नियम प्रतिबिम्बित होते हैं, अंतर्निहित होते हैं, जो पूरी वसुधा में हैं। यानी कुटुंब भी वसुधा का बिम्ब है और स्थानीयता एवं अंतर्राष्ट्रीयता के बीच अंतर्निहित नहीं है। चरखा तो एक स्थानीय और गांव की चीज थी लेकिन वह राष्ट्रीय आंदोलन का प्रतीक बना। इसी तरह से अपने देश शब्द का व्यवहार लें। परंतु आज तीसरी दुनिया के देशों के खिलाफ अंध अस्मितावाद का एक षडयंत्र चल रहा है। एक माहौल खड़ा किया जा रहा है जिसमें गांव देहात का, जिले का जो नया नेतृत्व खड़ा हुआ है उसको मुद्दों पर लड़ने देने की बजाय अस्मितावादी संघर्ष में फांस दिया जा रहा है। अमरीकी समाजशास्त्री सैमुअल हंटिंगटन ने 'क्लैश आफ सिविलाइजेशन' नामक पुस्तक में हिन्दू और मुस्लिम अस्मिता के संघर्ष को अपरिहार्य बताया है।

जैसी चर्चा हमने पहले की है कि हर स्तर पर लोकतंत्र की बाढ़ आई है और इससे नेता अर्थात् सक्रियकर्मी निकलेंगे जो अपने परिवेश को बेहतर बनाना चाहते हैं। परन्तु ऐसे लोग बेहतर समाज के लिए संगठन के बिना कुछ कर नहीं सकते हैं। जरूरत इस बात की है कि ऐसे लोगों को अभिव्यक्ति का मौका देने के लिए एक संगठन तंत्र हो। ऐसा तंत्र जिसको अंग्रेजी वाले 'ओपन एंडड' कहते थे। शुरू से ही वह ऐसा हो जिसमें मानवीय, लोकतांत्रिक मूल्य, समता का, लोकभागीदारी का स्पष्ट एहसास हो। ऐसा तंत्र गढ़ने के लिए एक नए

संगठन की जरूरत है। इस नए संगठन को केवल पश्चिम की उदार अवधारणाओं, प्रयोगों और अनुभवों के आधार पर खड़ा नहीं किया जा सकता। ऐसे संगठन को भारतीय स्मृतियों, अनुभवों और भारतीय सांस्कृतिक-सामाजिक जरूरतों के अनुरूप ही गढ़ना होगा। उसके लिए चेतना का जो औपनिवेशीकरण हो गया है उससे लड़ना होगा।

हम लोग कई बार अपनी बनी बनाई धारणाओं के इतने गुलाम हो जाते हैं कि सोचने का भी जोखिम नहीं उठाना चाहते। दलों का स्वास्थ्य आज खराब है तो उसके क्या ऐतिहासिक प्रक्रियागत कारण हैं इस पर अक्सर विचार नहीं होता है। क्या दल अपने आप में चुनावी मशीन, रचनात्मक काम, संघर्ष का औजार एक साथ बन सकते हैं ? या हमें राजनीति के लिए संगठन पर फिर से सोचना होगा? अगर ऐसा हुआ तो आंदोलन समूहों को एक होना पड़ेगा, आंदोलन समूहों को अलोकप्रिय बातें भी कहनी होंगीं। इतना संकल्प, सृजनशीलता और कल्पनाशीलता लोकतांत्रिक आंदोलनों में नहीं दिखती। लोकतांत्रिक संगठनों की यह विडंबना ही कही जाएगी कि जितने दल दिखते हैं, उनमें अंदरूनी लोकतंत्र का आभाव है। तीसरी शक्ति के अधिकांश दल कुछ जाति समूहों के जमावड़े दिखते हैं। कांग्रेस नेहरू खानदान के आभा मंडल के आधार पर अपने को खड़ा करना चाहती है, मुद्दों या किसी संघर्ष के आधार पर नहीं। भाजपा संघ के मेहनती कार्यकर्ताओं की बुनियाद पर खड़ी है और संघ ही उसको निर्णायक रूप से नियंत्रित करता है। जो मुद्दे भाजपा ने बतौर भाजपा उठाए थे, चाहे वह शुचिता का, पारदर्शिता का, भ्रष्टाचार मुक्त या भय मुक्त समाज देने का हो, भाजपा ठीक उल्टा व्यवहार कर रही है। नारा स्वदेशी का और काम देश को बेचने का। इस विसंगति के बावजूद देश के व्यापक असंतोष को समेटने वाली कोई राजनीतिक ताकत नजर नहीं आ रही है।

लोकतंत्र के विमर्श के लिये इसके कारणों में जाना होगा। आज की तारीख में एक दल की भांति संगठित लगते भाकपा, माकपा और भाकपा (माले) सब के सब लोकतांत्रिक केन्द्रीयतावाद को मानते हैं। दूसरी ओर भाजपा एक संगठित दल जैसा लगता है हालांकि अब उसमें आपसी झगड़े कांग्रेस से भी बड़े पैमाने पर होने लगे हैं। लेकिन उसके भी अधिकांश नेता 'एकचालकानुवर्तित्व', के सिद्धांत को ठीक मानते हैं। उसके काफी महत्वपूर्ण पदों पर

आसीन नेताओं के साथ जेल में रहने का मौका मुझे मिला है और वहां मैंने पाया है वे इमरजेंसी को बहुत गलत चीज नहीं मानते थे। उनमें से कइयों का यह कहना था अगर सत्ता में होते और इस तरह का आह्वान किया जाता कि 'सेना और पुलिस गलत कानून को न माने' तो शायद वे भी यही करते। इसलिए यह भी लोकतंत्र की एक विडंबना ही कही जाएगी कि जो आंदोलन लोकतंत्र के लिए आजादी के बाद सबसे ज्यादा सक्रिय रहा यानी समाजवादी आंदोलन या उनके विभिन्न नामों से चलने वाले समाजवादियों के दल आज सिरे से ही राजनैतिक पटल पर नदारद हैं। जो लोग लोकतंत्र को मानते नहीं उनके ढांचे अपने अलोकतांत्रिक सिद्धांतों के बावजूद, किसी न किसी अस्मितावादी सिद्धांत के सहारे टिके हैं, या फिर साम्यवादी अपने लोकतांत्रिक केन्द्रीयतावाद के सहारे टिके हैं। दरअसल समाजवादियों का जो संकट है वही सांगठनिक स्तर पर लोकतंत्र का भी संकट है। यदि हम लोकतांत्रिक राजनैतिक दल संगठित नहीं कर पाए तो फिर लोकतंत्र को कैसे बचा पाएंगे?

राजनीति व दलों की दयनीय हालत की चर्चा होती भी है तो केवल टुकड़ों में व्यक्तिवाद, जातिवाद, वंशवाद, राजनीति के अपराधीकरण, नेताओं के भ्रष्टाचार की बात होती है, लेकिन इन सब मुद्दों का आपसी संबंध क्या है, इस पर अक्सर बात नहीं होती। हम चाहेंगे कि लोकतंत्र के दिशा संकेतों के बारे में एक मोटा-मोटी, समग्र किस्म की सफाई कार्यकर्ताओं के दिमाग में हो। लोकतंत्र के मुद्दों पर संघर्षरत कार्यकर्ताओं में सहमतियां क्या हैं, हमारी असहमतियों के बिन्दु क्या हैं इसकी अगर पहचान हो जाएगी तो एक लोकतंत्र पर ईमानदार संवाद का एक राष्ट्रीय तंत्र खड़ा हो जाएगा। उसी तंत्र के समानान्तर राष्ट्र की पीड़ा को समझने वाला एक संवेदन तंत्र भी खड़ा होगा और हममें से इतिहास को आगे ले जाने वाली जो सामाजिक शक्तियां होंगी, जो तबके होंगे, वे अपने आप को राजनैतिक रूप से संगठित कर पाएंगे। विचार का संबल उनके साथ होगा, लोकतंत्र का आदर्शवाद उनके साथ होगा, और इस देश को गरीबी, भुखमरी, तंगहाली और बदहाली से, मुक्ति दिलाने का सपना होगा। लोकतंत्र के मायने तभी हैं जब लोकप्रियतावाद के बहाने से, लोकतंत्र का संभ्रम न फैलाया जाए बल्कि लोक को वास्तव में उसकी शक्ति उसकी सार्वभौमिकता लौटा दी जाए।

## ब्राह्मण नहीं, ब्राह्मणवाद से लड़ाई

अध्यक्ष की हैसियत से बोलते हुए आज मुझे थोड़ा संकोच हो रहा है क्योंकि यहां पर ऐसे बहुत से लोग हैं जिनसे मैंने अपने समाजिक कार्य के लिए लगभग पिछले 20-22 साल से प्रेरणा पाई है, उनके सामने मैं अध्यक्ष की हैसियत से बोलने की गुस्ताखी नहीं कर रहा हूँ। लेकिन जब आयोजकों ने यह निर्णय सुना ही दिया है तो मैं उसे इसी अर्थ में लेना चाहता हूँ कि बुजुर्ग पीढ़ी अब यह चाहती है कि नौजवान पूरी मुस्तैदी से, पूरी परिपक्वता से ब्राह्मणवाद को आखिरी शिकस्त देने के लिए इकट्ठे हो जाएं, वे इस जिम्मेदारी को संभाल लें। ब्राह्मणवाद के खिलाफ हमारी जो लड़ाई है उसके इतिहास और तात्विक ज्ञान की यहां बहुत चर्चा हुई है, उसको मैं दोहराना नहीं चाहता हूँ। मेरी शायद इतनी काबलियत भी नहीं है। लेकिन उस लड़ाई में ब्राह्मणवाद के खिलाफ अंतिम विषय पाने के लिए हमें संगठनात्मक काम क्या-क्या करने होंगे उस पर मैं अपनी बात रखना चाहता हूँ।

मेरी समझ से संगठन का जो एक संदर्भ है, वह यह है कि पूरे हिन्दुस्तान का आज जो बहुजन समाज है वह अपनी एक अस्मिता दिखाता है। मानवीय गरिमा चाहता है उसके लिए पूरे हिन्दुस्तान में जितने बड़े पैमाने पर समता को लेकर आज संघर्ष हो रहा है वह शायद कभी नहीं हो रहा था। इसी का परिणाम है कि वह औरत जिसने 25 दिसम्बर 1927 को इस प्रस्ताव का समर्थन किया कि असमानता की किताब 'मनुस्मृति' को जला दिया जाय, आज जब बराबरी की वह बात औरतें करती हैं तो दिल्ली में हर रोज 2 और 3 महिलाएँ जला दी जाती हैं। उसी तरह मनुस्मृति के दहने के पीछे दलित समाज की उपेक्षा और प्रताड़ना की जो पारंपरिक प्रवृत्ति रही है वह इन दिनों और निर्मम हुई है। अनटचेबल वाली बात अब बहुत आगे बढ़ गई है। दलितों के ऊपर आज संहार का एक शस्त्र लटका है। अभी गांवों में ही हमारा जो साथी गरीब है, दलित है उसका किस तरह से संहार किया जा रहा है, कैसे पढ़े लिखे दलितों को छांट कर मारा जा रहा है, कैसे बच्चे को मारा जा रहा है, ये खबरें रोज अखबार में पढ़ी जाती हैं। नये चरित्र और नयी पृष्ठभूमि में ब्राह्मणवाद का बढ़ता हुआ जो दैत्य है यह मुझे उसकी कमजोरी की निशानी भी लगती है। ब्राह्मणवाद के मुख्य औजारों के इस संदर्भ में हमें अपनी एक समझ बना कर अपना भी एक औजार बनाना चाहिए, अपना



एक संगठन बनाना चाहिए जो ब्राह्मणवाद को पराजित कर सके। भाजपा, आर.एस.एस. आक्रामक रूप से ब्राह्मणवाद को पुनः स्थापित कर देना चाहता है। लेकिन कैसे उस साजिश को समझा जाए जो आक्रमण भी है।

इस संदर्भ में अपना अनुभव मैं आपको बताऊं, 1975 से 77 तक आपात स्थिति में हम जमाहत-ए मजहूरी ईस्लामी से लेकर आर.एस.एस. तक के लोगों के साथ थे। आर.एस.एस. के जगन्ना राव जोशी से हमारी लम्बी बहस हुई। उन्होंने कहा कि समाज में श्रमविभाजन तो होगा ही और मनुस्मृति के अलावा क्या विभाजन हो सकता है। इसके जवाब में हमको कहना पड़ा कि अगर आप मनुस्मृति की बात करेंगे तो फिर हम दलित की ताकत के संदर्भ में उस हिन्दुस्तान की बात करेंगे जिसमें समता का एक मनु हुआ है। पूरी दुनिया में इस समता की लड़ाई के भगीरथ कार्ल-मार्क्स ने कहा है कि अब दलितों और सर्वहारा वर्ग की तानाशाही होगी। इस तरह की बात सुनकर वे आग-बबुला हो गए।

वह चरित्र अभी बदला नहीं है बल्कि उसमें अब इतनी हिम्मत आ गई है कि खुल के इकट्ठे होने लगे हैं। दिल्ली में मंडल आयोग की सिफारिशें लागू होने की घोषणा भर ही हुई थी वे लागू नहीं हो रही थीं। शिक्षा की कोई बात नहीं थी, कामकाज का अधिकार नहीं था, नौकरियां नहीं होंगी, अर्थतंत्र का विस्तार नहीं होगा तो आरक्षण से मात्र एक मनोवैज्ञानिक लाभ ही होना था। दूसरी ओर आर.एस.एस. ने अपना संघर्ष वाहिनी बना कर पूरे देश में लाखों लोगों को संगठित कर विरोध शुरू कर दिया। आर.एस.एस. की यह जो पैनी आक्रामकता है इसके स्वरूप को बारीकी से समझना है। जो जाति उन्मूलन को मानते हैं, जो हिन्दू रिफोर्म को मानते हैं उनमें भी मैंने यह पाया है कि वे लोग आपस में एक दूसरे की साख खत्म करने के लिए तत्पर रहते हैं।

दलित नेतृत्व जो राजनीति में नहीं हैं सामान्य जीवन में भी आपस में पूरे सामाजिक सांस्कृतिक संदर्भ पर बहुत विस्तार से चर्चा नहीं करते, उनकी सीमा और उनकी दुविधा के बारे में बात नहीं करते। राष्ट्रीय आन्दोलन और बाबा साहब के समय से लेकर अब तक जो

सामाजिक सांस्कृतिक स्थितियां बदली हैं उनके बारे में विस्तार से चर्चा नहीं करते। यह बात अक्सर मैंने सुनी है कि दलित वोटर भी बिक जाता है दलित नेतृत्व भी बिक जाता है और दलित अफसर जो है वह अपनी कम्यूनिटी को भूल जाता है। मैं इन बातों का प्रतिवाद नहीं करना चाहता हूँ , लेकिन इसके दूसरों पहलू पर मैंने अपने दलित साथियों में कम चर्चा सुनी है। यह देखने की कोशिश कीजिए कि आज समाज में कितनी सक्रियता है उस सक्रियता में दलितों का अनुपात आबादी के हिसाब से बहुत ज्यादा है। यह पहली बात है दूसरी बात यह है कि एक दलित अफसर, एक प्राध्यापक, एक एडवोकेट मान लीजिए कि वह ब्राह्मण विरोधी परिषद में चन्दा नहीं देता है, वह किसी सामाजिक संगठन से नहीं जुड़ा है, लेकिन उसके लिए यह कतई संभव नहीं है कि वह अपनी दलित पहचान को भूल जाये। पूरे समाज में जिस आक्रामक ढंग से दलित विरोधी माहौल बनाया गया, इसमें उसको तिरष्कार और अपमान सहना पड़ता है। नतीजे के तौर पर वह कहीं न कहीं अपने परिवार से, भाई बहन से, अपने रिश्तेदार से जो अभी तक प्रगति के पथ पर नहीं चढ़े हैं उसके प्रति एक, जिम्मेदारी दिखाने की कोशिश करता है। मुझे लगता है कि आज की मंहगाई के दौर में एक दलित मध्यमवर्गीय पर जो सामाजिक जिम्मेवारी है वह अन्य परिवेश वाले की तुलना में, ज्यादा है। इस तरह की जो बात सामाजिक, सांस्कृतिक संदर्भ के तौर पर है अगर उसे लोकतांत्रिक ढंग से परिवर्तित करना है तो वह बात दिमाग में रखना जरूरी है, क्योंकि जो सिर्फ असाधारण किस्म के दलित नेता हैं, जो कुर्बानी कर सकते हैं, जो समाज को भूल सकते हैं, जो सादगी से बहुत कम खर्च में अपने को खपा सकते हैं, चाहे जिन्दा रहे चाहे मरे वह समाज के ही काम आयें ऐसे ही असाधारण लोगों को दिमाग में रखकर और औसत दलित नेतृत्व को, औसत दलित कार्यकर्ता को, औसत बहुजन समाज के लोगों को निन्दा करते रहने तथा अपने आपको क्रान्तिकारी दिखाने की, अपने को बेहतर दिखाने की कोशिश तो नहीं कर रहे इस पर हमको थोड़ा सोचना चाहिए। क्योंकि अगर परिवर्तन लोकतांत्रिक ढंग से होना है, परिवर्तन में प्रखर लोगों की नहीं मेरे और आप जैसे कमजोर लोगों की भी भागीदारी होनी है तो हमको उन कमजोर लोगों के बारे में सोचना है जिनको अपने जीवन की रक्षा करते हुए ठाकुर और ब्राह्मण से आत्म विश्वास के साथ लोहा भी लेना है। उनके लिए वह रास्ता बन्द न कीजिये जिससे वह मानवीय गरिमा के बजाय उस भाजपा के साथ चला जाये जो अयोध्या में दलित से शिलान्यास कराता है। यह जो स्थिति का एक दोहरापन है उसको हम भी अपने आचरण से पैदा करते हैं, हमें उस पर ध्यान देना है कि वह

आचरण क्या है। रामधनजी, काशीराम जी और रामबिलास जी, तीनों ही नेताओं की अलग-अलग ढंग से मैं कदर करता हूँ। दलित समाज क्या है इसके बारे में इन तीनों को चिन्ता रहती है, हिन्दुस्तान के औसत दलित के बारे में ये काम करते हैं। लेकिन उनको एक और चिन्ता जिस बात की रहती है वह नेतृत्व ही है। हम इन नामों को जानते हैं, इसलिए हम कह रहे हैं। हममें और आपमें भी यह कमी है इसलिए मैं आपको इस बात का उदाहरण दे रहा हूँ मेरे दिमाग में यह रहता है कि अशोक भारती ने क्या भाषण दिया, उसने कितनी क्रान्तिकारी बात कही, ये लोग आपस में प्लस होने की कोशिश भाषा के स्तर पर कहते हैं और केवल उन्हीं का यह चरित्र नहीं है यह आज की राजनीति का कुल चरित्र है और दलित नेतृत्व भी उससे अछूता नहीं है, दूसरी ओर व्यवहार में हम लोग तमाम तरह के समझौते करते हैं। मैं उनकी बात कर रहा हूँ जो रामविलास हाड़ मांस के हैं जिनको समझौते करने पड़ते हैं। आज की जो राजनीति है उसके लिये साधन चाहिए। लेकिन एक दूसरे रामविलास के बारे में कुछ नहीं कहना चाहता हूँ जो हमारे व आपकी भावनाओं से जुड़ा रामविलास है उसका हाड़मांस के रामविलास से कोई लेना देना नहीं है। उसके लिए गांव-गांव में जो आदमी कुर्बानी कर रहा है, जो जलालत सह रहा है और अपनी एक नई पहचान पाने की कोशिश कर रहा है उससे इन लोगों को ताकत मिलती है चाहे वह काशीराम जी हों चाहे फिर रामविलास जी हों, चाहे क ख ग हों। उस रामविलास की जो ताकत है वह औसत आदमी की ताकत है इसलिए मैं यह चाहूंगा कि इन लोगों की आपसी जो प्रतिस्पर्धा है वह समाप्त होनी चाहिए।

जब ब्राह्मणवादी हम पर निर्णायक वार कर रहें हो पूरे बाबा साहब अम्बेडकर के साहित्य और कथनों को संदर्भ से काटकर हिन्दुवादी इसका इस्तेमाल कर रहे हों तो हमें सचेत होना चाहिए। उत्तर प्रदेश में सरकार ने योजना बनाई कि कैसे बाबा साहब की पूरी चिन्ता को विकृत करके हिन्दुवादी तंत्र के लिए मुसलमानों के खिलाफ उसका इस्तेमाल हो रहा है। बड़े पैमाने पर यह साजिश चल रही है। विश्व स्तर पर किस तरह से अलग ढंग का ब्राह्मणवाद पैदा हो रहा है कि आप अमेरिका में पैदा होंगे तो आपको चार घंटे में वही वेतन मिलेगा जितना हमारे यहां 16 घंटे काम करने वाले प्रोफेसर को; और ऐसा ही मजदूरों के साथ होगा। कभी इस बात को विश्व ब्राह्मणवाद के साथ नहीं जोड़ा जाता क्योंकि विश्व स्तर पर

ब्राह्मणवाद की ज्यादा सक्रिय दलाल कांग्रेस है, परोक्ष ब्राह्मणवाद की बात जब हम करेंगे तब उस पर आयेंगे। अभी प्रत्यक्ष ब्राह्मणवाद और उससे हमारा जो रिस्पोन्स है उसके बारे में मैं यह कह रहा था कि हम भाषा के स्तर पर बहुत क्रांतिकारी बात कहें वह सपना बहुत जरूरी है और जो जीवंत समाज है लेकिन सपने के साथ-साथ आज की हमारी जो मजबूरियां हैं, कमजोरियां हैं, कमियां हैं उनके बारे में सजग रहें, उनके बारे में लगातार आपस में चर्चा करें और उस पर इस निगाह से बात करें कि हमको उस सपने की ओर बढ़ने के लिए अगला कदम कैसे लेना है। आज की जो सामाजिक असलियत है, आज का जो शोषण है, भ्रष्टाचार है, आज का जो बहुजन समाज है, हमको वंचित रखने के लिये जो पूरा तंत्र है उस तंत्र को समझकर उस तंत्र को बदलने की ओर जाना है तो उस लड़ाई में हमको एक व्यापक किस्म की एकता चाहिए उसमें जो हमारे साथी हैं उन्हीं को हम अंडरमाईन करें उनकी साख को खत्म करें ऐसा जरूरी नहीं है। आर.एस.एस. की और हमारी शैली एकदम उल्टी है।

आर.एस.एस. के साथ जो हिन्दुवादी नहीं है साम्प्रदायिक नहीं है लेकिन हमारे साथ भी नहीं हैं। समतामूलक समाज के साथ जो सजग और सक्रिय रूप से नहीं है ऐसे लोगों से आर.एस.एस. अलग-अलग ढंग से संपर्क करता है। आज की तारीख में उसके 114 फ्रंट औरगेनाईजेशन चल रहे हैं। मैं आपको बताऊं कि आपात स्थितियों में 75 से 77 तक दो जेलों में घुमा, उसके बाद हम लोगों ने भूख हड़ताल की तो उन्होंने जयपुर तबादला कर दिया। जिन लोगों ने माफी नहीं मांगी थी उन समाजवादी मार्क्सवादी व एम.एल. वाले साथी सी.पी. एम. ने उस पर खास स्टैंड नहीं लिया और सी.पी.आई. तो कांग्रेस के साथ ही थी - तो मुख्यतः ये दो ताकतें थीं। समाजवादी गुटों की दो पार्टियां थीं, एक उस समय लोकदल और सोशलिस्ट पार्टी और जनसंघ तथा आर.एस.एस. मिलाकर विद्यार्थी परिषद और उनके अन्य संगठन बने थे। मैंने यह पाया कि जिन लोगों ने माफी नहीं मांगी थी, आमतौर पर उनकी संख्या हर जेल में समाजवादियों से कम थी। और जितने समाजवादी थे आमतौर पर उनमें से किसी ने माफी नहीं मांगी। लेकिन उसके अलावा तमाम किस्म के कमजोर लेकिन कट्टर ब्राह्मणवादी चाल की अनुवृत्तता यानी एक ही के पीछे अन्धश्रद्धा से चलेंगे, इस पूरे मानस को मानने वाले सैकड़ों लोगों को हम लोग जेलों में नहीं ले जा पाये थे। मैं उनकी माफी मांगने की बात का यहां समर्थन नहीं कर रहा हूँ लेकिन मैं आपको बार-बार यह याद

दिलाना चाहता हूँ कि जो समाज का औसत चरित्र कुर्बानी करने का, जोखिम सहने का है उसको दिमाग में रखे और संगठन व आंदोलन का ऐसा ढांचा बनाये कि एकदम अगुवा सिपाही से लेकर अंतिम कमजोर से कमजोर आदमी तक आपके संगठन का जीवंत रिश्ता हो। ऐसा न हो कि अगुवा सिपाही आगे मोर्चे पर निकल जाये और पीछे से रसद पहुचाने वालों और सपोर्ट करने वालों का कोई ढांचा ही नहीं रहे। हम पाते हैं कि हमारे साथ में बहुजन समाज के कल्याण सिंह जी हैं और दूसरी ओर वह बहुजन समाज के खिलाफ काम कर रहे हैं इसीलिए उन्हें मुख्यमंत्री का पद मिल गया है। दूसरा छोर है रामदास जी का, वह कहते हैं कि बन्दूक जब तक नहीं उठायेंगे कुछ बात नहीं हो सकती। मेरी यह गुजारिश है कि ऐसा संगठनात्मक रण कौशल पैदा कीजिए कि जिसमें कल्याण सिंह को मजबूर होकर वहां से यहां आना पड़े। भुजबल जो है वह आक्रामक ब्राह्मणवाद को छोड़कर छद्म ब्राह्मणवाद का हिस्सा बने, आपके आंदोलन का हिस्सा बने, एक मंत्री पद के लालच में एक तरह के ब्राह्मणवाद से दूसरे तरह के ब्राह्मणवाद का जो यह मुखौटा है हमारी आपसी बिखराव का कारण है। यह बिखराव क्यों पैदा होता है इसके बारे में दो वजह है - एक वजह है वैचारिक स्पष्टता का अभाव दूसरा वैचारिक स्पष्टता के अभाव से आत्महीनता का भाव पैदा होता है। एक डर पैदा होता है यह समाज आप पर हमला करता है, आपको लगता है आप कहीं समेट न लिये जायें; मैं आम व्यक्तियों की बात नहीं कर रहा हूँ, कार्यकर्ता जगत की बात कर रहा हूँ। जो कार्यकर्ता की एक वैचारिक समझ होगी, आम तौर से औसत कार्यकर्ता सिर्फ अपने विवेक के आधार पर अपने चिन्तन के आधार पर राजनैतिक कर्म करता है। आम तौर पर संगठनों में इतनी असमानता रहती है कि नेता किस्म के लोगों को ही यह सुविधा उपलब्ध है कि वह बाबा साहब और गांधी जी में जो बहस हुई उस बहस को पढ़े। लोहियाजी और बाबा साहब में क्या फर्क है डिबेट में क्या फर्क है इम्फेसिस का, यह संगठन के अगुवा लोगों को ही आम तौर पर मालूम होता है। और आम कार्यकर्ता अगुवा लोगों की ईमानदारी, उसके चरित्र और आस्था के भरोसे रहता है। आज क्या हो रहा है हम एक नेता के साथ रहते हैं उसके लिए जी जान से खेलते हैं, पता चलता है कि वह कांग्रेस में चला गया है, वह भाजपा में चला गया है। मैंने सुना है कि आपके इस इलाके में भी हुआ, दोनों ही पार्टियों में लोग गए हैं, दोनों ही पार्टियों में समाज में अच्छा काम करने वाले साथियों को कुछ दिक्कत हो सकती है। इस परिस्थिति से अपने को कैसे निपटना है ! मुझे लगता है कि बाबा साहब ने 1949 में जो संविधान सभा में

भाषण दिया था, उस भाषण को हमें पढ़ लेना चाहिए कि संगठन बनाने के लिए किस तरह का मानस चाहिए। संविधान सभा के बारे में तमाम तरह की आलोचनाएं हो रही थीं, बहुत समय लिया आदि-आदि तो उस भाषण में बाबा साहब ने बहुत करीने, बहुत स्पष्टता और आत्मविश्वास से जवाब दिया है। समय ज्यादा लेने के बारे में कनाडा में कितना समय लगा आस्ट्रेलिया में कितना समय लगा हमारा समाज कितना जटिल है; संशोधन कितने थे, परिस्थितियां कितनी जटिल थीं, हर आलोचना का जवाब दिया। दूसरी ओर अपने बारे में कि मैं तो सिर्फ दलित समाज के हित के लिए संविधान सभा में आया था, मुझे आपने ड्राफ्टिंग कमेटी में लिया, मुझे आपने उसका चेयरमैन बनाया है इसके लिए मैं आपका आभारी हूँ। फिर उसके बाद मैंने तो कुछ किया ही नहीं फलां वकील ने किया, फलां उसने किया है; तो श्रेय को बांटना एक विनम्रता है। अपना आत्मविश्वास जो आलोचक भी है, इसलिये आप स्पष्ट उत्तर दे रहे हैं, लेकिन आपने जो काम किया उसको, आपने एक व्यक्तिवादी ढंग से किया - यह मैंने किया है, हमने किया, हमारी टीम में आप तीन लीडर हैं तो आप दूसरों को ज्यादा श्रेय दे रहे हैं, ऐसे मानस से जब हम संगठन बनायेंगे तो शायद आर.एस.एस. के विशाल संगठन तंत्र का हम मुकाबला कर सकेंगे।

आज जो परिवेश है हम लोगों को अपने सत्य में, अपनी समझ में एक विश्वास के साथ-साथ एक दृढ़ता, एक विनम्रता का भाव होना चाहिए। पांच हजार साल पुराना लिखित इतिहास है, उसमें तथ्य के आधार पर ही इतिहास समझा जाय, या कीर्ति बनाई जाय, यह जरूरी नहीं है; प्रतीकों के माध्यम से भी इतिहास की समझ बनाई जाती है। यह बात अलग है कि एक प्रतीक दूसरे से एकदम उल्टा हो सकता है - राम के बारे में भाजपा जिस प्रतीक को उठा रही है वह पूरी तरह से ब्राह्मणवादी जाति व्यवस्था का पोषक प्रतीक है; जबकि इससे उलटा प्रतीक भी इस दुनिया में पैदा हुए हैं। अगर आज हम लोग राम की कोई नई धारा पैदा नहीं कर दें, अगर ऐसा करना चाहें जो राम को जाति व्यवस्था के खिलाफ दिखाती है, और तथ्य एवं इतिहास का मेल होता है या नहीं यह एक अलग बात है लेकिन जो लम्बी ऐतिहासिक समृद्धि वाले समाज होते हैं वह अक्सर ऐसा किया करते हैं। मान लीजिए कि हम ऐसा राम पैदा कर दें तब तो यह संभव है कि हम राम में आस्था की भी बात करें और ब्राह्मणवादी और जातिवादी विरोधी भी पैदा हों, अन्यथा हमको यह मानना चाहिए कि

जो राम की बात करता है वह कहीं न कहीं ब्राह्मणवादी व्यवस्था से टकराने के लिए कोई शॉर्टकट दूसरा रास्ता ढूँढ रहा है। मुझे लगता है कि इस निष्कर्ष पर आप लोगों की सहमति हो सकती है, इसके साथ ही दूसरी बात मैं यह कहना चाहता हूँ कि आज की परिस्थितियों में ब्राह्मणवाद के चक्कर में गांव का गरीब ब्राह्मण भी आ गया है; इन दोनों के फर्क को हमें समझना चाहिए। गरीब ब्राह्मण इस दम्भ में है कि वह ब्राह्मण है, जन्मना और कर्म फल को मानता है मनुस्मृति में उसका जो स्थान है इस वजह से वह हमारे अत्याचारों में भागीदार होता है। लेकिन अगर हमारा संगठन होगा, हमें वैचारिक स्पष्टता और आत्मविश्वास होगा, हम एक नयी संस्कृति के वाहक होंगे तो हमारे लिए यह संभव है हम उस ब्राह्मण को अपने आंदोलन में शामिल कर लें और ब्राह्मणवाद के खिलाफ हथियार बना लें। मातङ्ग सत्याग्रह के समय लोग आये कि फलां-फलां जाति के हम नेता है आप ब्राह्मणों को शामिल न होने दीजिए इस सत्याग्रह में, हम भी आपके साथ हैं। बाबा साहब ने कहा मैं ब्राह्मणवाद के खिलाफ हूँ न कि ब्राह्मणों के। इस तरह का एक आत्म विश्वास अपने में होना चाहिए लेकिन जो अभी आपकी सीढ़ी तक नहीं आया है उसके प्रति हिंकारत नहीं होनी चाहिए। इन्सान की फितरत अगर कुर्बानी करना है, जोखिम लेना है, तो समझौता करना भी, गिर जाना भी और गिर जाने के प्रति आप अपने को अगुवा मानते हैं तो उसको खड़ा करने की मर्यादा दिखाइये, उदारता दिखाइये, जो दोषी है उससे घृणा करेंगे तो आंदोलन खड़ा नहीं कर पायेंगे। उसके दोष से मन में सावधानी और सजगता बरतनी है। इस लम्बी बात को मैं सांस्कृतिक स्तर पर कहना चाहता हूँ कि क्या आप उस दलित बुजुर्ग को आज से तीन पीढ़ी पहले वाले हिंकारत से देखते हैं। अपने जो साथी हैं, औरत हैं, बच्चे हैं, जिसको आपने यह मौका नहीं दिया कि वह इन सवालों पर खुले दिमाग से सोच सके; उसको अगर आप हिंकारत से देखोगे तो आप अपने आंदोलन का समाज परिवर्तन की प्रक्रिया का नुकसान करोगे तथा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से ब्राह्मणवाद की ही मदद करोगे। यह स्पष्टता होनी चाहिए, लेकिन यह एक वैचारिक स्पष्टता या सहिष्णुता है। असहमत से भी संवाद चलाने की ताकत अपने विश्वास से ही पैदा होती है। मुझे लगता है कि अभी वैचारिक स्तर पर समाज में जो स्थिति है उसमें हमारे भीतर एक सहज आत्मविश्वास पैदा होना चाहिए।

मेरी प्रारंभिक राजनीतिक दीक्षा है 10वीं के बाद से समाजवादी आंदोलन में हुई। समाजवादी आंदोलन का केवल एक हिस्सा डा. राम मनोहर लोहिया को मानता या सीधे-सीधे मंडल

जैसे रण कौशल को जाति-उन्मूलन का हथियार मानता था। जातीय उन्मूलन हिन्दुस्तान में एक जरूरी एजेण्डा है, सामाजिक क्रांति और वर्ग संघर्ष दोनों एक दूसरे के पूरक होंगे। इस बारे में डा. राम मनोहर लोहिया की स्पष्टता थी। लेकिन पी.एफ.पी. की समाजवादी धारा इस बात को नहीं मानती थी। इसे राजनैतिक प्रक्रिया कह लें या परिपक्वता आज जनता दल में जो समाजवादी धारा है उसमें पी.एस.पी. भी मंडल के पक्ष में उतना ही है जितना राम मनोहर लोहिया की धारा को मानने वाले। तमिलनाडु में पार्टी बनी है पैरियस कम्युनिस्ट पार्टी, पहले यदि पेरियार के बारे में कम्युनिस्ट का कहना सुन लें तो शायद संभव ही नहीं हो कि यह दोनों नाम एक साथ लिये जायें। मार्क्सवादियों को और पेरियार को मानने वाले लोगों की एक साझी पार्टी बनाई है उसी तरह से बाबा साहब और लोहिया इन दोनों को मानने वाले तो साथ-साथ काम करते रहे हैं।

गांधी के बारे में मेरी जो समझ है उसके दो आयाम हैं - एक धर्म आश्रम वाले गांधी थे और दूसरे वह जिनकी बाबा साहब से लगातार बहस होती रही। कांग्रेस के भीतर भी उसी तरह की एक डिवेट थी और जब बहुजन समाज ने नई अस्मिता प्राप्त कर ली तो उसका भी एक रूपान्तरण हो रहा था, पूना से परिवर्तन की यह प्रक्रिया शुरू हुई और 42 तक पूर्ण हो गई थी। गांधी जी का कहना था कि जाति अस्पृश्यता जाति प्रथा से ही जुड़ी है और जाति प्रथा के उन्मूलन बगैर न तो समाज का कल्याण संभव है और न ही अस्पृश्यता खत्म हो सकती है। यह 42के बाद का गांधी है। आज के सर्वोदयी को मैं सही गांधीवादी इसलिए नहीं मानता हूँ कि वे 42के पहले वाले गांधी को ज्यादा अपने व्यवहार में मानते हैं। उनके संगठन में टार्च लेकर ढूँढे तो भी आपको दलित नहीं मिलेगा लेकिन मैं यह कहना चाहता हूँ कि छद्म ब्राह्मणवाद के खिलाफ बहुत सी लड़ाइयों में कांग्रेसी हमारे साथ थे, वे लड़ाइयां अगर हम हार गये तो भी हिन्दुस्तान में ब्राह्मणवाद सीमित हो जायेगा। आज का जो छद्म ब्राह्मणवाद होगा उसका रूप पुराने वाले से ज्यादा जकड़नपूर्ण होने वाला है, उसमें ये लोग वैकट रमण से लेकर अभी के जो तमाम ब्राह्मणवादी शासक हैं, वे यह कहने वाले हैं कि यह नई मनुस्मृति तो बाबा साहब ने खुद ही लिखी है, यह समता का डाकुमेंट है। उस समानता के डाकुमेंट का हथ्र क्या होगा? जैसे हिन्दू धर्म की एकधारा जड़ और चेतन यानि यह कुर्सी और आप दोनों बराबर हैं, लेकिन वास्तव में दलित ना छुएंगे ना देखेंगे ना खायेंगे ना शादी करेंगे ना बैठ कर रोटी खायेंगे तो उसी तरह का नया ब्राह्मणवाद चलने वाला है।



संविधान में लिखा है सब बराबर हैं, लेकिन वास्तव में जो अगड़ी जातियों में पैदा हुआ है, अंग्रेजी ज्ञान रखता है उसको अमेरिका में भी नौकरी मिल जायेगी चाहे डिग्री लिया हो या नहीं उसको वीडियो फिल्म बनाने का ठेका मिल जायेगा, लाखों की कमाई हो जायेगी, लेकिन जो दलित है वह दलित ही रहेगा।

नये किस्म के ब्राह्मणवाद को समझने के क्रम में अभी तक मैंने मोटे तौर पर आक्रमक ब्राह्मणवाद के बारे में बताने की कोशिश की है। प्रबल हिन्दूवाद की धारा के 114 संगठन हैं, वनवासियों में उनका संगठन है, बनवासी कल्याण आश्रम के नाम से बच्चों में हिन्दुस्तान का जो डेमोग्रैफिक पोपुलेशन है वह संतुलन बिगड़ने वाला है क्योंकि अगले कुछ वर्षों में बहुसंख्यक बच्चे नौजवान होने वाले हैं। आर.एस.एस. इन मामलों में बिल्कुल सजग है और पूरे देश में उसने बड़े पैमाने पर शैक्षिक संस्थाओं की जाल बिछा दी है और हमारे जो परिवर्तनवादी आंदोलन हैं उनमें कहीं बच्चों के स्कूल का कोई नेटवर्क नहीं है। जो सरकारी स्कूल हैं, आमतौर से उत्तर भारत के बारे में निश्चित तौर पर कह सकता हूँ उनमें पढ़ाई प्रायः खत्म हो गई है और जो बहुजन समाज से हटके दूसरे तबके हैं या हमारे समाज से मध्यम वर्ग की सीढ़ी तक किसी न किसी तरह पहुंच गये हैं उनके बच्चे तो पब्लिक स्कूलों में पढ़ लेते हैं बाकी के बच्चे आमतौर से सरकारी स्कूलों में पढ़ते हैं; जिसमें रजिस्टर होता है, जिसमें टीचर होते हैं, जिसमें तनख्वाह मिलती है लेकिन उसमें क्लास नहीं लगती, उसमें टीचर स्कूल में नहीं आते हैं। आगरा का हमने एक सर्वेक्षण कराया था, उसमें एक स्कूल जिसमें बाकायदा मास्टररोल है, वह स्कूल पूरे अनुदान के तौर पर चलता है। दिल्ली के बगल का शहर है आगरा, पत्थर की तो यहाँ सबसे सुन्दर इमारत है लेकिन मानवीय स्तर पर सबसे क्रूरता वहां देखने को मिलती है। इस तरह से बहुजन समाज के आगे बढ़ने के रास्ते बन्द हो रहे हैं। ब्राह्मणवाद अपने समानान्तर कई चीजें खड़ी कर रहा है। संस्कृति और व्यवस्था के मामले में ही सिर्फ मनमानी नहीं बल्कि बाबरी मस्जिद राम जन्म भूमि के बारे में कोर्ट जो फैसला देगा उसको भी ये नहीं मानेंगे क्योंकि ये ही कोर्ट हैं और इनका बोलबाला है। यह जो ब्राह्मणवादी तंत्र है वह अलग रास्ते पर है और अलग-अलग तरह से वैज्ञानिकों को संगठित कर रहा है, इस तरह से समाज के सांस्कृतिक, राजनैतिक, सामाजिक, शैक्षणिक, बौद्धिक, वैज्ञानिक सभी क्षेत्रों में ब्राह्मणवादी तंत्र हावी हो रहा है और आर.एस.एस. उसका

केन्द्र है। वह भाजपा समेत अपने फ्रंट आर्गनाइजेशन का इस्तेमाल कर रहा है। दूसरी ओर छद्म ब्राह्मणवाद के बारे में भी कुछ कहना चाहता हूँ। आपको ध्यान होगा जब मनुस्मृति जलाई गई थी तो चार प्रस्ताव पारित हुए थे उसमें एक प्रस्ताव यह भी था कि भारत में कोई विषमता कानून नहीं होगा और अभी क्या हो रहा है? आज अमेरिका नया ब्राह्मण है उसके पास हथियार होंगे, आणविक हथियार होंगे, उसके लिए अलग कानून है, वह ऊर्जा पैदा करेगा उससे पूरा पर्यावरण प्रदूषित होगा लेकिन उस पर वह कानून लागू नहीं होगा। इसी तरह से व्यापार के बारे में वह जो मर्जी कानून बनाए; उसका बाजार हमारे सामान के लिए खुले नहीं हैं लेकिन उनके सामान के लिए हमारे बाजार खुले होने चाहिए। हमारे यहां से ले गये बीज को पेटेन्ट करवा लेने के बाद अगर हमारा किसान उस बीज के आधार पर कृषि करता है तो उसको उनका टैक्स देना पड़ता है। इसी तरह युनाइटेड संयुक्त राष्ट्र संघ में जिसको वह चाहे हमलावार माने; चीन को तिब्बत पर वह हमलावार नहीं मानता है। चीन को हथियार भी देंगे, आर्थिक मदद भी देंगे लेकिन अगर सद्दाम हुसैन को हमलावार माना है तो उस पर सब तरफ से हमला कर देंगे तो फिर बच्चे, बूढ़े उसके नागरिक अधिकार का कोई अर्थ नहीं रहता।

आज विश्व में अमेरिका, पश्चिमी यूरोप और अब उसके साथ जापान ब्राह्मणी व्यवस्था के अगुआ लोग हैं, और हमारे यहां के जो ब्राह्मणवादी लोग हैं इनसे रिश्ता बना रहे हैं। जैसे एक गरीब ब्राह्मण भी गांव की ब्राह्मणवादी व्यवस्था का पोषक होता है, वैसे वैकटरमण गरीब है, वहां से घुड़की आती है, वहां का डिप्टी मिनिस्टर भी आता है तो उनकी आर्थिक नीतियों को लागू कर देती है। उन आर्थिक नीतियों का नतीजा क्या है मैं उसकी तफसील में नहीं जाना चाहता हूँ। नयी आर्थिक नीतियों में कांग्रेस क्या करने वाली है उदाहरण के लिए अभी रेल में 14 लाख लोग हैं 7 लाख लोगों की छटनी कर दी जाय, 32 पब्लिक सैक्टर को प्राइवेट सैक्टर में बदल दिया जाए अगर सरकारी नौकरी यहां नहीं रहेगी तो प्राइवेट सैक्टर में कितने बहुजन समाज के लोगों को नौकरी मिल जायेगी ? हमारे पास पूंजी निवेश करने की कितनी गुंजाइश है इसका अंदाजा आप लगा सकते हैं। दूसरी जिन लोगों की छटनी होगी वे सब लोग अमीर और गैर बहुजन के होंगे ऐसा नहीं है, वह गरीब ब्राह्मण भी होगा जिसका हित और हमारा हित वास्तव में एक है लेकिन उसका मानस ब्राह्मणवादी है। वह दलित के

खिलाफ होगा, वह बहुजन के खिलाफ होगा, समाज में जातीय हिंसा बढ़ेगी और समाज में बेरोजगारी बढ़ेगी। जो पहले से रोजगार पाये हुए लोग हैं वे भी बेरोजगार हो जायेंगे, नये रोजगार तो उपलब्ध ही नहीं होंगे। इसतरह पूरे समाज में हिंसा बढ़ेगी यह एक स्थिति है, दूसरी परिस्थिति जिसको आप नजरअंदाज नहीं कर सकते वह यह है कि पूरी दुनिया में अमेरिका ने अपने प्रचार व संचार माध्यमों से एक उपभोगवाद की अंधी भूख पैदा की है। आप कितने ही गरीब क्यों न हों, आपके मन में लालच है कि भूखे रहकर भी कलर टी.वी. ले लिया जाय क्योंकि इसमें इज्जत है। इस उपभोगवाद के कारण हम लोग एक ऐसी असुरक्षा का भाव महसूस कर रहे हैं जिसमें लग रहा है कि हम पीछे न छूट जायें। इस असुरक्षा के भाव में हम तमाम लोग तरह-तरह के समझौते करने लगते हैं।

किसी भी तरह के आर्थिक सामाजिक संगठनों में भागीदारी करने वालों में दिल्ली और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के बहुजन समाज का जो बेजा इस्तेमाल मंडल से लेकर भाजपा उनके हितों को नजरअंदाज किया करती थी उसके बाद यह साजिश इस हद तक सफल होना संभव नहीं है। यह जो आर्थिक सुरक्षा का माहौल और उपभोगवाद की पागल दौड़ है, जिसमें किसी भी तरह से उपभोग की सामग्री पा लेनी है, मूल्यों का कोई महत्व नहीं है, सच्चाई का कोई महत्व नहीं है, उससे एक मानसिकता बनती है, एक असुरक्षा का भाव बनता है जिससे फासीवाद पैदा होता है। हिन्दू कट्टर नेता हिन्दुओं को तथा मुस्लिम कट्टर नेता मुसलमानों को साम्प्रदायिक बनाएंगे। पूरा तंत्र सामाजिक द्वन्द और संघर्ष का हो जायेगा और सरकार को मौका मिलेगा कि वह ज्यादा से ज्यादा हथियार पुलिस को दे। सेना को देश की लोकतांत्रिक संस्थाओं का ध्यान होगा, न्यायालयों की ताकत कम होगी तो इससे देश में आजादी के आंदोलन की जो एक बड़ी उपलब्धि है जिस पर बाबा साहब बार-बार जोर देते थे उस लोकतंत्र का क्षरण होगा। देश भी किसी न किसी तरह के भावनावाद का शिकार हो सकता है। वह भावनावाद हिन्दू कट्टरता हो सकता है, वह राष्ट्रीय एकता को बचाने का भावनावाद हो सकता है, उसके आधार पर लोकतंत्र को समाप्त कर दिया जायेगा। इस तरह ये खतरे ब्राह्मणवाद की लड़ाई से सीधे-सीधे जुड़े हैं लेकिन समाज इतना जटिल हो गया है कि कई बार हम उन खतरों को सीधे-सीधे देख नहीं पाते हैं। और यह देखना एक व्यक्ति के बस की बात भी नहीं है, इसको कोई आंदोलन ही देख सकता है। इसलिए जब से मैंने

अपनी बात शुरू की थी कि हम आमूल परिवर्तन का एक व्यापक आन्दोलन बना वह व्यापक आंदोलन खुला हो यानी इसमें छोटे-छोटे ग्रुप हो जो अपने आप में स्पष्ट हो लेकिन वह दूसरे के बारे में सहिष्णु हो जो अलग-अलग ढंग से अलग-अलग क्षेत्रों में काम कर रहे हों। लेकिन फिर भी वह काम एक साथ कर सके अगर ऐसा एक खुला मंच बनाना होगा जो वैचारिक रूप से स्पष्ट भी हो अपने काम में पक्का भी हो तो वह इस तात्विक बहस के आधार पर नहीं बन सकता है। उसको कार्यक्रम की एकता के आधार पर बनाना पड़ेगा। ब्राह्मणवाद की लड़ाई में सबसे पहले तो जातीय संस्था का उन्मूलन यह स्पष्ट तौर पर एक व्यापक मंच की एकता का आधार होना चाहिए दूसरा अल्पसंख्यक की सुरक्षा और अल्पसंख्यक की सुरक्षा में हम लोगों को जहां भी हो जो भी अल्पसंख्यक जैसे कर्नाटक में अगर भावनावाद फैला तो तमिलनाडु अल्पसंख्यक है, पानी के सवाल पर वह भी उससे जुड़ता है; चाहे कश्मीर का हिन्दू हो चाहे पंजाब के हिन्दू हमें इस तरह के अल्पसंख्यकों की पूरे देश में रक्षा करनी है यह दूसरा सवाल मूलतः सांस्कृतिक सवाल है। आर्थिक सवालों में एक तो नई आर्थिक नीतियों को समझना उनसे किस तरह से ब्राह्मणवाद पुष्ट होता है उसका विरोध करना, बहुराष्ट्रीय निगमवाला मसला और उसके साथ रोजगार के अधिकार के लिए लड़ाई करना यह दूसरा आर्थिक प्रोग्राम है। तीसरा राजनैतिक प्रोग्राम हमारी बहुजन समाज की जो ताकत है उसकी कांग्रेस और भाजपा विकल्प नहीं है अभी जो विकल्प हैं वे बहुत किस्म के हैं। उनमें टूट आने लगती है उस टूट को कैसे बचाना है हमको एक राजनैतिक पार्टी बनानी है जो बहुजन समाज की इन दोनों पार्टियों से अलग प्रतिनिधित्व कर सके तो उसके लिए हममें से हर कार्यकर्ता को अपने दिमाग में सोचना होगा कि आज हमारे मन की पार्टी तो नहीं है, लेकिन हमारे करीब की है। इसे कैसे अपने मन की पार्टी बनाना है इसके बारे में हमको काम करना और अंतिम बात समाज की लोकतांत्रिक संस्थाएं हैं। सरकार तो लोकतंत्र में चुनी जाती है जो हमारे नाम पर वोट लेती है, हमारे नाम पर बजट बनाती है, लेकिन आपस में ही खा जाती है। राजीव गांधी मानते थे कि रूपये में 85 पैसे तो पार्टी और ब्यूरोक्रैसी मिलकर ही खाती है, फिर किस तरह से हिन्दुस्तान का राज्य हिन्दुस्तान की सबसे बड़ी लोकतांत्रिक संस्था बने, न्यायालय हिन्दुस्तान के बहुजन समाज की आकांक्षाओं का प्रतीक बने, लोकतांत्रिक संस्थाओं को समाज के बहुजन लोग कैसे इस्तेमाल करें यह उसका राजनैतिक एजेण्डा का दूसरा मुद्दा है और अन्तिम मुद्दा भविष्य की वह रणनीति जिसे बाबा साहब ने संविधान सभा में निदेशक तत्वों के बारे में संकेत दिए हैं उसके लिए लड़ाई करना

तो जरूरी है। अब अपने में से भी अगर ऐसा कोई डाक्टर बनता है जो गैर बहुजन समाज डाक्टर की तरह फार्मासिस्ट है, और गरीबों की सेवा किये बिना साल भर में लाल टानिक देकर कार, बंगला बनाते तो हमारा जो संविधान है वो मनुस्मृति का पुर्नवतार हो जाने वाला है। सामाजिक असलियत और समता के संघर्ष से उसका कोई वास्ता नहीं रहने वाला है। हम लोगों के दलित समाज, बहुजन समाज में भी इंजीनियर, डाक्टर, लैक्चरर तमाम हैं हमें अपनी आचरण संहिता खुद ही लिखनी है और वह केवल अपनी कलम से नहीं बल्कि अपने जीवन के व्यवहार से लिखनी है। प्रमोशन नहीं मिलेगा, ट्रांसफर होंगे, भ्रष्ट अफसर ब्यूरोक्रेसी आपका तबादला करवायेगा तो भी हमको अपने व्यवहार से, आचरण से एक नई आचरण संहिता लिखनी है जो विषमता के खिलाफ जाती हो जो समता के समाज का सपना का संकल्प मजबूत करती हो, इन्हीं शब्दों से मैं अपनी बात को खत्म करना चाहूंगा।

मनु स्मृति दहन दिवस पर बुटी हॉल नागपुर विद्यापीठ, नागपुर में 25 दिसम्बर 1991 को दिया गया  
अध्यक्षीय भाषण

## एक दलित युवक द्वारा पार्टी की तलाश

समाज का दलित तबका क्या सोचता है, उसकी आकांक्षाएं क्या हैं, अल्पसंख्यक युवा-मन के सपने क्या हैं, आदिवासी समाज की अपनी परम्परा और जीवनचर्या के बारे में चिंता या नकलची विकासवाद से उनके बड़े हिस्से को विस्थापित बंधुआ बनाने की समस्या आदि ऐसे सवाल हैं जिन पर बहस या बातचीत राजनैतिक रूप से जागरूक हलकों में भी कम ही सुनने को मिलती है। मध्यमवर्गीय पृष्ठभूमि वाले लोगों के लिए आधुनिकतावाद की अंधी-दौड़ के इस माहौल में इन सवालों पर सोचने जानने का काम अपने रोजमर्रा का काम करते हुए सहज ढंग से कर पाना संभव नहीं है। अपनी संवेदना को गहरा और ग्रहणशीलता को सुघड़ बनाने के लिए हमें समाज-जीवन की विविध अनुभूतियों को खुद कोशिश करके जानना-समझना होगा।

प्रस्तुत है एक लोकतंत्रनिष्ठ दलित नौजवान की कहानी। बिहार आंदोलन से भावनात्मक रूप से जुड़े नौजवान कुलश्रेष्ठ की यह कहानी है। बिहारी समाज के राजनैतिक माहौल में इस आदर्शवादी नौजवान के मन में लोक-राजनीति करने की ललक पैदा होती है। वह विपक्ष में अपने लिए उपयुक्त दल की खोज करने लगता है। अपनी इस खोज में यह नौजवान हर बार गली के बन्द सिरे पर जा पहुँचता है। कहानी के प्रतिनिधि होने का दावा तो नहीं है, लेकिन 'कुलश्रेष्ठ' की लोक-राजनीति करने की ललक उसके लिए कोई रास्ता न खोज पाने की स्थिति बहुत से नौजवानों की मनः स्थिति का चित्रण है। दलित-मन की इस खोज के विभिन्न आयामों और नियति के बारे में हमें गहराई से सोचना और कुछ करना होगा। इस कहानी को अपने मित्र दायरे के अनुभवों के आधार पर ही लिखा गया है, आशा है परिचित पात्र क्षमा करेंगे।

कुलश्रेष्ठ की पढ़ाई अपने कस्बे के बृजकिशोर स्मृति विद्यालय में हुई थी। स्कूल की कई यादें उसके स्मृतिपटल पर आज भी जीती-जागती तस्वीर की तरह हैं। छठे दर्जे से आठवें तक गणित पढ़ाने वाले अध्यापक श्री लाल सिंह की याद तो उसे रह-रह कर आती है।

कितने कठोर दीखते थे पढ़ाते समय। रौब इतना कि चाहे कुछ हो उनके दिए हुए प्रश्नों को हल करके लाना कोई छात्र नहीं भूलता था। छठे-सातवें दर्जे में कुलश्रेष्ठ ने सुन रखा था कि लाल सिंह जी आठवें दर्जे के छात्रों को बाबा साहब अंबेडकर के जन्मदिन पर अपने गांव में 'भोज' पर बुलाते हैं और उसी दिन जाति तोड़ो सम्मेलन करते हैं।

एक दिन कुलश्रेष्ठ भी आठवीं में पहुंचा और बाबा साहब का जन्मदिन भी आ गया। कुलश्रेष्ठ गुरु जी के गांव पहुंचा, स्कूल के साथियों के अतिरिक्त वहां उसे गांव के अन्य युवक भी मिले, युवतियां लगभग नगण्य थीं, गुरु जी की बड़ी बेटी और उसकी कुछ सहेलियां। सब लोग छोटे-छोटे समूहों में गप कर रहे थे। कुलश्रेष्ठ भी अपने से बड़ी उम्र के नौजवानों की एक टोली की चर्चा चुपचाप खड़ा होकर सुनने लगा। एक युवक कह रहा था, बाबा साहब न होते तो आज हमारी क्या हालत होती ? दूसरा बोला 'इस बात को गा-गा कर नाचो, अभी कितना कुछ करने को है बाकी उसके बारे में तो कुछ सोचो' चौथे ने कहा 'सोचें क्या खाक मुझे तो अभी से नौकरी और बहन की शादी की चिन्ता सता रही है, पिता जी को जब से टी.बी. हुआ है कोई काम नहीं कर पा रहे हैं' आदि-आदि।

कुलश्रेष्ठ धीरे से दूसरी टोली की ओर बढ़ गया, क्योंकि वहां गर्मा-गर्म बहस हो रही थी। एक पक्ष कह रहा था जातिवाद पर प्रभावी हमला बाबा साहब का ही था, बाकि लोग खास कर गांधी जी तो उसमें रोड़े अटकाते थे। दूसरे समूह का दावा था कि मानवता का इतना बड़ा कलंक बिना हिंसा इस हद तक धुल पाता, इसकी कल्पना असंभव है। ऐसा थोड़े है कि इससे पहले जातिवादी मानस के खिलाफ संघर्ष नहीं हुए, पूरा भक्तिकाल इस संघर्ष की ही कहानी है, लेकिन गांधी जी ने तथाकथित सवर्ण जातियों की इंसानियत को जिस हद तक जगाया, वहशीपन को जितना कम किया उतना किसी ने नहीं। दूसरा चिल्ला कर बोला- बिल्कुल नहीं ! बिल्कुल नहीं ! पूरी साजिश सवर्णों की हैसियत बनाए रखने की थी, नाम दे दिया हरिजन और काम किया हमारे गुस्से को कुन्द करने का।' तीसरा बोला ठीक है भाई लेकिन 'सवर्णों' में अस्पृश्यता के खिलाफ गुस्सा और उसे खत्म करने की छटपटाहट भी तो पैदा की। मोक्ष को जीवन का महान लक्ष्य मानने वालों को यह भी तो समझाया कि 'दरिद्रनारायण' की सेवा से ही मोक्ष मिलेगा। जीवन-व्यवहार में सही-गलत को जांचने के

लिए “अचूक ताबीज” के केन्द्र में “आखिरी आदमी” को ही रखा। कुलश्रेष्ठ को बहस रोचक तो लगी पर जिस जोर-शोर से कही जा रही थी, वह उसे अच्छा न लगा। प्रत्येक के तर्क सुनकर उसे लगा कि ये दोनों अलग इन्सान थे, इसलिए उन्होंने अपने-अपने ढंग से अच्छा काम किया - अस्पृश्यता मिटाने का, इन्सान की गरिमा को पुनः प्रतिष्ठित करने का।

कुलश्रेष्ठ अभी इस बहस को पचा ही रहा था कि खाने की घंटी बज गई। वह भी पांत में जाकर बैठ गया। चुपचाप अकेले अपना काम करते जाने की उसकी आदत शुरू से ही थी। आज भी वह अपने सहपाठियों से बहुत घुल-मिल नहीं रहा था। लेकिन उसके बगल में रशीद बैठा था। बहुत मजाकिया स्वभाव है उसका। पढ़ने में भी तेज। रशीद कुलश्रेष्ठ से भी मजाक करने लगा। कुलश्रेष्ठ भी आज अपने स्वभाव से विपरीत खुलकर हंसने-मजाक करने लगा और खाना खाने के दौरान ही दोनों के बीच इस प्रकार बातें होने लगीं मानों बरसों से एक दूसरे के दोस्त हों। खाना हुआ। करीब आधे घंटे बाद पूरे माहौल में एक अजीब सा दबा-दबा शोर हुआ और सभी लोग गोष्ठी के लिए बनाए पंडाल में जमा होने लगे। जाने पर पता चला कि बिहार के भूतपूर्व मुख्यमंत्री कर्पूरी ठाकुर बिन-बुलाए यहां चले आए थे। पंडाल में एक बादामी कूर्ता और पीली सी हो रही सफेद धोती पहने एक आदमी कह रहा था, “बगल से गुज़र रहा था, पता चला जाति तोड़ो सम्मेलन हो रहा है सोचा होता चलूं।” यह कर्पूरी ठाकुर थे, बिहार के जन नेता। कुलश्रेष्ठ के मन में उनकी बात सुनने की इच्छा और तीव्र हुई। पंडाल का जमावड़ा अब सभा की शक्ल ले रहा था। कर्पूरी जी को लोगों ने मंच पर बिठाया। गांव के स्वतंत्रता सेनानी दलपत राम ने सभा की शुरूआत की। गुरु जी ने इस सहभोज और गोष्ठी के उद्देश्यों पर प्रकाश डालते हुए पिछले तेरह बरस से निरंतर चल रहे इस सिलसिले की कुछ ‘यादों’ को सभा के सामने रखा। खैर कर्पूरी जी का नम्बर आया - छोटा ही भाषण दिया लेकिन पता नहीं जादुई सा असर हुआ कुलश्रेष्ठ पर उसका। आज भी उसके स्मृति पटल पर उन्होंने जो कहा उसकी याद कुछ इस प्रकार है -

“हमारे जातिवादी मानस का अहंकार देखते ही बनता है जड़ और चेतन को ब्रह्मा का हिस्सा मानने वाले लोग इंसान और इंसान के बीच भेदभाव करते हैं। भारतीय समाज अपने संकल्प और संघर्ष से यदि समता-मूलक समाज नहीं बनाएगा तो विश्व बिरादरी में हमारा स्थान शूद्र



का ही बना रहेगा। यू.एन.ओ. में “वीटो” का अधिकार प्राप्त स्वर्ण है, शेष सब शूद्र। हमारे देश से तथाकथित ऊंची जाति का छात्र विदेश पढ़ने जाता है तो गोरों के होटल में जूठे बर्तन भी धो लेता है अपना खर्च चलाने को और अपने ही देश में श्रम से भागने की हर संभव कोशिश करता है। नए हिंदुस्तान में कमरों और लुटेरों की दो जातियां नहीं होंगी। नया हिंदुस्तान पूरी दुनिया में जहां भी समता के लिए, अन्याय के खिलाफ संघर्ष चल रहा है, उनसे जुड़ेगा उनकी यथाशक्ति मदद करेगा।”

गोष्ठी के समापन के बाद वह रशीद के घर से होते हुए अपना घर लौट आया। लगता है दोनों में गहरी दोस्ती की बुनियाद पड़ गई थी। समय बीतता गया। 1977 जून में बिहार विधानसभा के चुनाव के बाद कर्पूरी जी फिर बिहार के मुख्यमंत्री बने। कुलश्रेष्ठ अब कॉलेज के दूसरे बरस में पढ़ रहा था कि एक दिन उसने सुना कि उसके स्कूल में गणित के अध्यापक लाल सिंह की किसी ने हत्या कर दी। क्योंकि बिहार में अगड़े-पिछड़े के बीच हो रहे संघर्षों में वह अपने ही लोगों को समझाने-बुझाने और निन्दा-आलोचना के काम में लगे हुए थे। कुलश्रेष्ठ खबर मिलते ही रशीद को लेता हुआ, गुरुजी के गांव गया। उनका अंतिम संस्कार दो दिन पहले हो चुका था। लौटते समय कुलश्रेष्ठ ने रशीद को बताया कि जातिवाद के खिलाफ आंदोलन में अपना जीवन लगाने की इच्छा है, लेकिन तीन छोटे भाइयों की पढ़ाई में मदद के लिए उसका कमाना भी जरूरी है। इसी बातचीत में रशीद और कुलश्रेष्ठ में करार हो गया कि रशीद दरियां-खेस बनाने के लिए खड्डियां लगाएगा और कुलश्रेष्ठ आस-पास के गांवों और मंडियों में उनकी बिक्री का काम देखेगा और उन्हीं क्षेत्रों में जाति-तोड़ो मंच बनाने की कोशिश करेगा।

आखिर कुलश्रेष्ठ की पढ़ाई खत्म हुई, रशीद और कुलश्रेष्ठ ने स्वरोजगार योजना के तहत कर्ज लेकर काम शुरू किया। दो वर्ष में ही जिले के हर प्रमुख हाट में, बाजार में उनकी दरियां और खेस बिकने लगे। समय बीतता गया कुलश्रेष्ठ के दो भाइयों ने पढ़ाई पूरी की। एक भाई को क्लर्क और एक को असिस्टेंट की नौकरी मिल गई। अब उसने शादी भी कर ली।

तीसरा भाई होम्योपैथी का डॉक्टर बनकर अभी लौटा था, कुलश्रेष्ठ उसके लिए एक दुकान खरीदने की सोच रहा था कि अचानक सरकार की नई कपड़ा नीति से उनकी खड्डी के बंद होने की नौबत आने लगी। मील के बने सूत पर कुछ ही मिलों के एकाधिकार और मिली-भगत की वजह से खेस-दरी बनाना अब घाटे का सौदा होने लगा था। कुलश्रेष्ठ का जिला बिहार के सबसे गरीब जिलों में एक था। उत्पादित माल के दाम बहुत ज्यादा नहीं बढ़ाए जा सकते थे।

इस बीच कुलश्रेष्ठ की पहल पर बने जाति-तोड़ो मंच पूरे जिले में फैल गए। आस-पास से आमंत्रण आने लगे। पिछले वर्ष तो वैशाली जिले के सोनपुर मेले में कबीर-लोहिया विचार मंच ने पाखंड मिटाओ प्रदर्शनी के उद्घाटन के लिए युवा कुलश्रेष्ठ को आमंत्रित किया था। वहीं उसका श्रीपत से परिचय हुआ। श्रीपत छात्र युवा संघर्ष वाहिनी से जुड़ा है और बोधगया में कार्यरत नौजवान है। सोनपुर मेले की गोष्ठी में उसने बोधगया मठ से भूमिहीनों के संघर्ष की कहानी सुनाई। कुलश्रेष्ठ सुनकर रोमांचित सा हो गया।

कुलश्रेष्ठ का मन अब पूरा समय इसी प्रकार के कामों में लगाने का बन रहा था। उसने अपने छोटे भाइयों से बात की। कुलश्रेष्ठ को सुखद आश्चर्य हुआ कि दोनों ने कहा कि “हम तो खुद ही सोच रहे थे कि अब आप समाज को ही अपना परिवार मानें, इस छोटे परिवार की आर्थिक जिम्मेवारी हम उठा लेंगे।” कुलश्रेष्ठ की जिंदगी में यह बहुत बड़ी घटना थी, अब उसने अपने सामाजिक काम के बारे में नये सिरे से सोचना शुरू किया, उसे लगता था कि उसके काम में कुछ अधूरापन है। लोग जाति-तोड़ो मंच की गोष्ठियों, प्रभात फेरियों और प्रदर्शनियों में हिस्सा तो लेते हैं, लेकिन बात आगे नहीं बढ़ रही है।

अखबारों में कभी-कभी संपूर्ण क्रांति मंच की खबरें छपती थीं। एक दिन कुलश्रेष्ठ के कस्बे में मंच के युवा नेता रिपुदमन को आना था। रिपुदमन ने लोकतंत्र के महत्व पर भाषण दिया। उसने राजनीति में लोक भागीदारी को लोकतंत्र का प्राण बताया। उसने कहा कि किस प्रकार आजादी के संघर्ष में कांग्रेस एक सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलन की जमात थी, राजनैतिक

आजादी उसके प्रमुख लक्ष्यों में एक था, आज राजनीति पर पूरी तरह धनशक्ति काबिज हो गई है, दल अब लोक-आकांक्षाओं का आईना न होकर सत्ता-संघर्ष के गिरोहों से ज्यादा मेल खाने लगे हैं। हमें लोक भागीदारी के लिए कोई राजनैतिक औजार गढ़ना होगा, चुनावों में भ्रष्टाचार, बूथ कैप्चर तथा जातिवादी और सांप्रदायिक विद्वेष फैलाने वालों के खिलाफ संगठित होना होगा, नहीं तो लोकतंत्र नहीं बचेगा।

रिपुदमन की बातों से कुलश्रेष्ठ के दिमाग में बिजली-सी कौंध गई। ऐसे कई सवाल जिन पर उसने आज तक सोचा न था, उसे परेशान करने लगे। यदि दल नहीं रहेंगे, वोट देने की प्रणाली नहीं होगी तो देश में आम-आदमी की आवाज़ तो दब जाएगी। हम लोगों का क्या होगा ? उसे सोनपुर मेले में राजस्थान के प्रतिनिधि राजेन्द्र द्वारा सुनाया किस्सा याद आया, राजेन्द्र ने बताया था कि 1977 में जनता पार्टी के राज में कुछ इलाकों में गांव के जमींदार समझ बैठे थे कि हमारी जागीरदारी लौट आई है, और इक्का-दुक्का गांवों में तो हरिजनों के लिए अलग प्याऊ बनाने की कोशिश की गई थी। 1980 में वहां जनता पार्टी को हरिजनों ने वोट नहीं दिया। हालांकि उन्हें जनता पार्टी के अंत्योदय कार्यक्रम से बहुत लाभ हुआ था। किन्तु इज्जत नहीं तो आर्थिक लाभ किस काम का।

“यदि दल और वोट की प्रणाली खत्म हो गई तो क्या होगा ?” यह सवाल कुलश्रेष्ठ को परेशान कर रहा था। वह दो रात सो नहीं सका। तीसरे दिन उसने संकल्प किया कि वह आजादी के संघर्ष के दिनों की कांग्रेस जैसी पार्टी बनाने के लिए किसी विपक्षी दल का सदस्य बनेगा और उस दल का चेहरा बदलने में अपनी पूरी ताकत लगा देगा।

‘दल’ में शामिल होने का मन बनाने में कुलश्रेष्ठ ने बहुत लंबा-चौड़ा नक्शा नहीं बनाया है। कुछ मोटी बातें हैं जैसे दलित इज्जत से इंसानी जिन्दगी जी पाएं इसके लिए जरूरी है कि समाज में जातिवादी मानस कमजोर हो। कौन कद्दावर नेता और दल इस मामूली सी अपेक्षा को आज पूरा कर रहा है ? जातिवादी मानस के खिलाफ संघर्ष की बात जाने दें, कौन बड़ा नेता है जो ‘जातिवाद’ के प्रत्यक्ष या परोक्ष इस्तेमाल से अपने को बचा पा रहा है। हर

भारतीय चाहे तो अंदाजा लगा सकता है कि पिछले दिनों 'अ.ज.ग.र.' सम्मेलनों की जो होड़ लगी थी, उससे युवा कुलश्रेष्ठ के दलित मन पर क्या बीती होगी। किंतु कुलश्रेष्ठ लोकतंत्र को पुष्ट करने के सक्रिय कर्म में आज दल को ही महत्वपूर्ण माध्यम मानने लगा है। इसलिए उसकी उपयुक्त दल की तलाश जारी है। उसकी पृष्ठभूमि दलित की जरूर है लेकिन उसके मन में जातिवादी भेदभाव के कारण शेष समाज के प्रति कोई कटुता, चीढ़ या हिकारत नहीं है। मानवता पर लगी जातिवादी-अस्पृश्यतावादी कलंक की जड़ें कहां से आईं, कौन इसके लिए जिम्मेवार है, इस पर शायद उसने बहुत सोचा नहीं है। फिर वह इसे सामाजिक कलंक मानता है, उसके कई निजी कड़वे अनुभव भी हैं। रोज अखबार में हरिजनों के जलाए जाने, ठीक वैसे ही जैसे औरतों के जलाए जाने पर, शेष समाज की तफरी वाली गप्प के दौरान गलती से अभिव्यक्त हो जाने वाली चिंता से भी वह वाकिफ है। ऐसी स्थिति और खबरें उसको अब केवल उदास नहीं करतीं बल्कि नये समाज के उसके चित्र में जाति विरोधी रंग को गहरा करती हैं, उसके संकल्प को मजबूत करती हैं। किसी भी प्रकार के जातिवाद से न जुड़ने के उसके इरादे को पक्का करती हैं ऐसी खबरें।

इतनी पृष्ठभूमि बताने के बाद तो आप यह प्रश्न नहीं करेंगे कि आजकल तो बहुजन समाज पार्टी का बहुत हल्ला है, यदि कुलश्रेष्ठ दलित है तो क्यों नहीं...। कुलश्रेष्ठ नाराज हो जाएगा आपके सवाल से। क्या दलित नौजवान इस हार से ही राजनीति शुरू करे कि जातिवाद को मिटाने के लिए उल्टे किस्म का जातिवादी जरूरी है, उसका नेता सिद्धांत, कार्यक्रम के मुताबिक यह दलों को अपना दोस्त या विरोधी मानने के बजाए सौदेबाजी वाली शैली में अपने सभी विकल्प खुले रखे। नहीं, कुलश्रेष्ठ को यह कबूल नहीं।

पूरे समाज को अपना मान, उसका नेता बनने का सपना लिए कुलश्रेष्ठ छोटे-बड़े अनेक दलित संगठनों के बारे में व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलन के संदर्भ में तो सोचता है लेकिन लोकतांत्रिक राजनीति को पुष्ट करने के औजार के बतौर नहीं। क्योंकि इनमें से अधिकांश समूह किसी एक व्यक्ति या छोटी मित्र मंडली के मेहनत-लगन आदि के भरोसे जिंदा हैं न कि आम दलितों की भागीदारी के भरोसे। कई बार तो लगता है कि इनके पीछे

कोई सपना और संकल्प नहीं है, यह तो केवल सभ्रांत दलितों के अच्छी बात करने वाले क्लब जैसे हैं।

कुछ मित्रों ने कुलश्रेष्ठ को राय दी कि सामाजिक विकास की गति पर असर डालने की दृष्टि से सांस्कृतिक सवाल भी कम महत्वपूर्ण नहीं। मीनाक्षीपुरम की धर्मपरिवर्तन की घटनाओं के बाद विश्व हिंदू परिषद एवं अनेक हिंदू संस्थाओं ने बहुत पैसा इक्कट्ठा किया था, दलितों के बीच काम करने के लिए और तुम अभी भी हिंदू मानते हो अपने आप को, क्यों नहीं हिन्दुओं में से जातिवाद मिटाने के लिए इन संगठनों में कुछ काम करते। आर.एस.एस. परिवार के किसी संगठन में शामिल हो जाओ, उससे सांस्कृतिक मोर्चे पर काम भी चलता रहेगा और भारतीय जनता पार्टी में भी भागीदारी कर सकोगे।

मायूस कुलश्रेष्ठ अभी दुविधा में ही था। दुविधा का कारण उसकी बचपन की कुछ यादें थीं। दादा बताया करते थे कि किस प्रकार उसका एक चाचा जो राम भक्त हो गया था और गांव के राम-मंदिर में पूजा का हठ करने लगा था, आज तक लापता है। कस्बे के ऊंची जाति के लोगों ने चाचा को उसकी इस हिमाकत के लिए बहुत पीटा था। उसके दादा कस्बे में संतनुमा जीवन बिताने वाले एक बहुत ही सज्जन श्री राम प्रकाश के पास शिकायत लेकर गए। दादा की बात से अब समझ आता है कि यह आदमी संघ का प्रचारक था और हिंदू संगठन, हिंदू एकता की बात करता था। लेकिन श्री राम प्रकाश जी ने इस मामले में धैर्य से काम लेने की सलाह दी थी। बाद में दादा को पता चला कि पिटाई करवाने में कस्बे के जिस “प्रतिष्ठित” सेठ का हाथ था वह तो संघ आयोजित समारोहों की अध्यक्षता किया करता था। लेकिन कुलश्रेष्ठ इस किस्से को बहुत तूल नहीं देना चाहता था, क्योंकि मित्रों ने बताया था कि संघ अब बहुत बदल गया है।

कुलश्रेष्ठ को संघ की भीतरी संरचना और गैर लोकतांत्रिक संगठन-सिद्धांत का पता न था, न ही उसने संगठन के भीतरी लोकतंत्र के सवाल पर बहुत मनन किया था। वह अपने मन को संघ-भाजपा के माध्यम से दलितों तथा शेष समाज के बीच काम करने को तैयार करने की

कोशिश कर ही रहा था कि राम जन्मभूमि का ताला खोलने की इजाजत कोर्ट ने दे दी। उसके बाद से तो कुलश्रेष्ठ एकदम हतप्रभ है संघ की रामभक्ति का तेवर देखकर, उनकी देशभक्ति का तेवर देखकर ! देश के बहुसंख्यक समुदाय के नेता होने का दावा करने वाले लोग अपने ही देश की अदालत को नकार रहे हैं, उसकी न्याय प्रक्रिया में उन्हें भरोसा नहीं। जिस गांव से 'रामशीला' लेकर आ रहे हैं उस गांव के हिंदुओं के बीच फैले अहंकार, मिथ्याचार, भ्रष्टाचार और सबसे बढ़कर इंसान की गरिमा में अनास्था की संघ को चिंता नहीं। केवल अपने संभावित फायदे के लिए अपने ही भाइयों के खिलाफ घृणा के संस्कार गहरे बैठाना और सांप्रदायिक हिंसा को भड़काने वाली कार्यवाहियों में बढ़-चढ़ कर हिस्सा लेना इनकी रणनीति है। क्या इस आग-मिट्टी से गढ़े गये देश में लोकतंत्र चलने देगा? कुलश्रेष्ठ का दिमाग साफ है, जो लोकतंत्र का दुश्मन है वह देश का, गरीब का, दलित का, बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक सभी का दुश्मन है। कुलश्रेष्ठ समझ नहीं पा रहा है कि राष्ट्रभक्त होने का दावा करने वाली जमात इतना तोड़क काम कैसे कर सकती है। यह इंदिरा गांधी द्वारा खालिस्तानी जगजीत सिंह चौहान को भारत आने की इजाजत देने या भिंडरावाला जैसे लोगों को शह देने या श्री राजीव गांधी द्वारा बोफोर्स दलालों को बचाने की कार्यवाहियों से कैसे अलग है या राष्ट्र को कम नुकसान पहुंचाने वाला है, उसकी समझ में यह नहीं आ रहा था। खैर संघ से मोहभंग की वजह से भाजपा का विकल्प भी उसके सामने न था। अब कुलश्रेष्ठ क्या करे। उसने फैसला किया कि अब वह ऐसे दल की तलाश छोड़ देगा जो उसके मन मुताबिक हो। एक दल जो इंदिरा कांग्रेस की नीतियों का प्रभावी विरोध करते हुए स्पष्ट विकल्प देता हुआ नजर आए, वैसा दल आज नहीं है, वह बात कुलश्रेष्ठ की समझ में आ गई। कुलश्रेष्ठ को एक मित्र ने राय दी कि उसे जनता दल में शामिल होना चाहिए। जनता दल के अध्यक्ष अक्सर व्यवस्था परिवर्तन की राजनीति की बात करते रहते हैं। इस दल में बिहार आंदोलन की आग में तपे कई युवा हैं, पुराने समाजवादी हैं, दलित नेता अरूण कांबले हाल ही में इसमें शामिल हुए हैं आदि-आदि। कुलश्रेष्ठ ने जनता दल में शामिल होने के सुझाव पर सोचना शुरू किया। उसके दिमाग में अनेक शक उठते थे --पार्टी के भीतर लोकहित के सवाल को उठाने की कितनी छूट होगी, धन-कुबेरों की पार्टी तंत्र पर कितनी पकड़ होगी, दल निर्माण में रुचि रखने वालों के मन में कांग्रेस संस्कृति से भिन्न कुछ है क्या ? मेरे परिवार और निकट मित्रों, रिश्तेदारों में तो कोई इतना पैसे वाला भी नहीं है कि पार्टी के क्रियाकलापों के लिये मुझे चंदा दे सके, कांग्रेस में तो ब्लॉक यूथ कांग्रेस का

अध्यक्ष बिना शोर के छींक दे तो आप उनके स्तुतिगान के पोस्टर तस्वीर के साथ अगले दिन ही दीवारों पर देखेंगे। जनता दल भी ऐसा ही तो नहीं होगा कहीं। इन सवालों पर मंथन चल ही रहा था, उसे अच्छा लगा यह जान कर कि वरिष्ठ सर्वोदय विचारक और नेता आचार्य राममूर्ति को दल की राष्ट्रीय कार्यकारिणी और संचालन समिति में लिया गया है, फिर उन्हें केन्द्रीय संसदीय बोर्ड में भी लिया गया। बाद में बिहार में राम सुंदर दास को अध्यक्ष तथा आचार्य जी को बिहार संसदीय बोर्ड का अध्यक्ष बनाया जाना भी कुलश्रेष्ठ के मन को छू रहा था। उसे दल के अध्यक्ष का वह बयान बखूबी याद था जिसमें उन्होंने सत्ता परिवर्तन और सरकार चलाने से ज्यादा दल निर्माण, दल चलाने के काम को महत्वपूर्ण बताया था।

लेकिन कुलश्रेष्ठ लोकतंत्र के लिए 'दल' के माध्यम से काम करने का फैसला फिलहाल शायद ही कर पाए। आखिर क्यों ? उसने जाना है कि इसी मनः स्थिति का दावा कर दल में शामिल होने वाले बिहार आंदोलन की पृष्ठभूमि वाले साथियों में पदों को लेकर काफी खींचतान है। कम से कम बाहर से देखने पर कार्यक्रम एवं मुद्दों पर कोई गुटबाजी या झगड़ा नजर नहीं आता, फिर भी हर आदमी एक अलग गुट जैसा ही दिखता है। लखनऊ में उत्तरप्रदेश इकाई के देरी से बनने की सफाई देते हुए श्री विश्वनाथ प्रताप सिंह ने भी कह दिया है कि "संगठन जनता को तैयार करने के लिए बनता है। यहां जनता तैयार है फिर संगठन की क्या जरूरत ? फिर भी कांग्रेस को हटाने भर को संगठन बन गया है।" कुलश्रेष्ठ इससे थोड़ा अलग सोचता है उसकी मोटी समझ के मुताबिक समाज में लोकतांत्रिक नेतृत्व निर्माण और धारावाहिकता के लिए संगठन पहली शर्त है। आज लोकतंत्र के सामने उपयुक्त दल और नेतृत्व के अभाव का संकट इसलिए खड़ा है क्योंकि इंदिरा जी ने कांग्रेस सहित सभी विपक्षी दलों को बार-बार अपने कौशल से तोड़ने में कामयाबी पाई थी। कुलश्रेष्ठ के लिए दूसरी उम्मीद दल के युवा लोग हो सकते थे, उनकी गुटबाजी का जिक्र तो हमने किया ही। तीसरी उम्मीद जद में आचार्य जी जैसे लोगों का होना उसे लगता था पर यह उम्मीद भी आचार्य राममूर्ति का एक विस्तृत आलेख पढ़ने के बाद टूट गई क्योंकि उन्होंने कहा कि दल और उसके रोजमर्रा के संचालन की जिम्मेवारी से वह नहीं जुड़ें हैं।

कुलश्रेष्ठ ने जद के एक कार्यकर्ता के माध्यम से श्री सुरेन्द्र मोहन जी से बात की। उन्होंने लोगों के बीच काम कर रहे अनेक लोगों के प्रेरक किस्से सुनाकर, कुलश्रेष्ठ को उसके काम के बारे में कई उपयोगी एवं ठोस सुझाव दिए। लेकिन उन्होंने सीधे दल में काम करने का कोई रास्ता नहीं बताया। पहली मुलाकात में कुलश्रेष्ठ को स्पष्ट कहने की हिम्मत नहीं हुई कि वह दल में काम करना चाहता है। कुलश्रेष्ठ जिन साथियों के साथ समय-समय पर विभिन्न सामाजिक कामों में हिस्सा लेता रहा है।

उनमें से उसने रशीद और श्रीपत से ही बात की। लेकिन दोनों के जवाब से ही वह निराश हुआ। रशीद बोला, भाई मैंने तो जितना अपने को मुसलमान माना है शायद उससे ज्यादा हिंदुस्तानी माना है और कोशिश रही है कि मेरा मुसलमान होना, मेरे हिंदुस्तानी होने और मेरे बाकी इंसानों के बीच दीवार न बने। लेकिन जद के अध्यक्ष को तो धर्मनिरपेक्षता का सर्टिफिकेट भी सैय्यद शहाबुद्दीन से चाहिए, जिस आदमी ने मुसलमानों को बाकी हिंदुस्तानी आवाम से अलग-थलग कर देने की ठान ली है।

श्रीपत का जवाब भी उदास करने वाला था। वह बोला भाई मैं पूर्णकालिक कार्यकर्ता हूं, दोस्तों की मदद से अपना सार्वजनिक काम और परिवार चलाता हूं। मैंने पाया है कि मेरे मित्रों को पूर्णकालिक कार्यकर्ताओं को मदद करके वैसा ही आनंद प्राप्त होता है जैसे किसी युवा दंपति को अपने मां-बाप की मदद करने में या मां-बाप को अपने बच्चों के पालन-पोषण में जैसा सुख मिलता है और 'दल' में क्या होगा ? बंधुआ मजदूर का तो शरीर ही बंधक होता है, 'दल' में तो सुना है कार्यकर्ता मित्राधार पर नहीं नेताओं की मदद से राजनीति करते हैं और उन्हें शरीर नहीं आत्मा गिरवी रखनी पड़ती है। इतने करीबी मित्रों ने भी कुलश्रेष्ठ के 'दल' में शामिल होने के प्रस्ताव पर टका सा जवाब दे दिया।

आज कुलश्रेष्ठ की समझ में यह नहीं आ रहा कि वह राज और लोक के बीच के सबसे महत्वपूर्ण मध्यस्थ तंत्र (दल) में क्या और कैसा काम कर सकता है? ध्यान रहे कुलश्रेष्ठ नए समाज बनाने की छटपटाहट लिए हुए एक दलित युवक है, और वह सामान्य जन और



राज्य तंत्र के बीच दल रूपी सेतु को बनाने और पुष्ट करने के काम में आपकी मदद चाहता है। क्योंकि अब उसकी पक्की राय हो गई है कि लोक का संगठन और दलों के पीछे संगठित लोक ही लोकतंत्र की गारंटी है।

लोकायन समीक्षा, चुनाव विशेषांक, वर्ष 1989-90